नमो नमः श्री वीतरागाय नमः

विश्वपूज्य प्रातः स्मरणीय प्रभु श्री राजेन्द्र सूरीश्वर गुरुभ्यो नमः

आध्यात्मिक विकास की भूमिकाएं एवं पूर्णता

विजय जयन्तसेनसूरि

पुस्तक	—	आध्यात्मिक विकास की भूमिकाएं एवं पूर्णता
लेखक	—	विजय जयन्तसेनसूरि
प्रकाशक	—	राज राजेन्द्र प्रकाशन ट्रस्ट रतनपोल, हाथीखाना, अहमदाबाद (गु.)
वीर सं.	—	२५२५
राजेन्द्र सूरि सं.	—	९१
विक्रम सं.	—	२०५४
सन्	—	१९९८
प्रथमावृत्ति	—	१०००
मूल्य	—	२५ रु.
मुद्रक	—	श्री एस. कम्प्युटर सेन्टर जालोरी गेट के अन्दर, जोधपुर फोन : ६२०४०८

प्राथमिक व्यक्तव्य

जैन धर्म आत्मा के चरम विकास में आस्था रखने वाला महान मानवता वादी धर्म है जो प्राणीमात्र की आध्यात्मिक शक्ति को विकसित होने का अवसर देने की घोषणा करता है। वास्तव में जीव शाश्वत् अमर एवं अविनाशी है, ध्रुव है-इसकी अवस्थाएं परिवर्त्तन शील है। कृत कर्मानुसार शरीर-इन्द्रियादि का संयोग होता है, सुख-दुःख का अनुभव होता है और स्थिति पूर्ण होने पर जीव, वर्तमान शरीर को छोड़कर नया शरीर धारण करता है। जीव की इस जीवन यात्रा में आध्यात्मिक विकास की भूमिकाएं यदि स्थान पाती हैं, यथार्थ दर्शन-आत्म दर्शन अथवा तत्व प्रतीति की दृष्टि से उठती ज्ञान की हिलोरे सम्यक् आचरण की ओर प्रशस्त करती है, तो जीव अपना अन्तिम लक्ष्य जो मोक्ष है-पूर्णता है,-पा लेता है- सिद्ध-बुद्ध और मुक्त हो जाता है।

अध्यात्म का शाब्दिक अर्थ है-भीतर जाना, स्वयं को जानना आत्मा को जानना। बाहर रहना भौतिकता है और भीतर आना अध्यात्म। अध्यात्म का महत्वपूर्ण शब्द अर्थ है सम्यक् दृष्टि-यथार्थ दर्शन। जो जैसा है उसे उसी रूप में देखना। आत्मा को भी उसके वास्तविक स्वरूप में देखना और जानना ही सम्यग्दर्शन है, आध्यात्मिक भूमिका का श्री गणेश है।

जैन दर्शन की दृष्टि से आत्मा मूलतः शुद्ध - बुद्ध और परिपूर्ण है-अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख और अनन्त वीर्य का स्वामी है किन्तु कर्मों के कारण आत्मा का वास्तविक स्वरूप आवृत है, विकृत है। ज्यों-ज्यों कर्मों का आवरण हटता जाता है त्यों त्यों आत्मा के गुण प्रकट होने लगते हैं। आत्मा के गुणों के विकास की इन भूमिकाओं को क्रमिक अवस्थाओं को जैन साधन पद्धति में गुण स्थान कहा है। आत्मिक शक्ति के अल्पतम अर्विभाव वाली अवस्था-प्रथम गुण स्थान है। इस गुण स्थान में आत्मा शरीर का प्रकाश बहुत ही मन्दतम होता है-धीरे धीरे क्रमिक आध्यात्मिक विकास के साथ यह प्रकाश बढ़ता है तथा चौदहवें गुण स्थान में जब अयोग की स्थिति हो जाती है तब उसका असली रुप प्रकट होता है। तब जीव अपने अन्तिम लक्ष्य तक, अपने साध्य तक पहुँचता है। यह आध्यात्मिक विकास की पूर्णता का अंतिम चरण

होता है, जो सिद्धावस्था का, मुक्तावस्था का, चरण होता है । जहाँ से फिर लौटना नहीं होता, जो जन्म-जरा और रोग-शोक आदि दुःखों से सर्वथा मुक्त कर शाश्वत सुख देता है,-इसी का नाम मोक्ष है । यही आध्यात्मिक विकास की मंजिल है-पूर्णता है ।

इसी विषय सामग्री को समाहित करती है-परम श्रद्धेय सृजन के सूत्रधार, अध्यात्म योगी, मानवता के प्रहरी, प्रशमरसमहोदधि दिव्य प्रेरक, ज्योर्तिमय दिशा निर्देशक, वात्सल्य और करुणा के आगार, ज्ञान के सागर-**राष्ट्रसन्त श्री मद् विजय जयन्तसेन सूरीश्वरजी महाराज सा.** द्वारा रचित **"आध्यात्मिक विकास की भूमिकाएं एवं पूर्णता"** नामक पुस्तक । मात्र पैंतीस मिनिट की अल्पावधि में मैंने इस पुस्तक की पान्डुलिपि को पढ़ा और पाया कि वास्तव में यह एक अमृत कुम्भ है जिसमें पूज्य श्री ने जैन तत्व और दर्शन, आचार और विचार की समग्रता को स्पर्श करते हुए-जीव के लिए-आत्मिक विकास के विभिन्न सोपानों के द्वारा क्रमशः पूर्णता की ओर ले जाने का प्रशस्त पथ प्ररुपित किया है ।

इस प्ररुपण में पूज्य श्री ने जहाँ सम्यक् दर्शन-ज्ञान और चारित्र के द्वारा साधक को-आत्मार्थी को -प्रथम सोपान से लेकर चौदहवें और अन्तिम सोपान तक-प्रमोशन-डिमोशन-प्रमोशन की स्व वृत्ति में गुजरते हुए पूर्णता तक पहुँचाया है, वहीं इन आध्यात्मिक भूमिकाओं से जुड़े समस्त बाधक और साधक तत्वों, द्रव्य-गुण-पर्यायों, कर्मवाद, लेश्याएं, भावनाएं, गतियाँ, गुप्तियाँ-समितियां, जीव का स्वरुप-लोक का स्वरुप - सिद्ध का स्वरुप मोक्ष तत्व आदि समस्त ज्ञेय-हेय और उपादेय समाधानों के द्वारा विराट सागर को गागर में भरने जैसा अद्भुत अलौकिक कार्य किया है । चिन्तन की गहराई और भावों की ऊँचाई लिए यह पुस्तक जहाँ जैन धर्म और दर्शन के जिज्ञासुओं की प्राथमिक पिपासा को शान्त करने का प्रयास है वहीं दूसरी ओर आत्मिक गुणों के विकास की क्रमिक अवस्थाओं द्वारा पूर्णता तक पहुँचने की अविरल यात्रा एवं उसके सोपानों का दिग्दर्शन है जो प्रबुद्ध जनों के लिए-मुमुक्षुओं के लिए अत्यन्त उपयोगी है-पठनीय, मननीय एवं आचरणीय है । पूज्य दीर्घायु हो तथा ऐसा ही सद् साहित्य हमें उपलब्ध होता रहे इसी मंगल कामना के साथ —

डॉ. श्रीमती कोकिला भारतीय

आध्यात्मिक विकास की भूमिकाएँ और पूर्णता

आध्यात्मिक विकास भूमिकाएँ - गुणस्थान

संसार में विद्यमान अनन्त जीवों को आत्यंतिक सुख इष्ट है और अहर्निश उसकी प्राप्ति की अदम्य आकांक्षा से प्रेरित होकर वे आध्यात्मिक उत्क्रान्ति की ओर अग्रसर हैं। उन सब में विविध प्रकार की विषमताएँ और विविधताएँ हैं। बाह्य और अभ्यन्तर जीवन की बनावट में विभिन्नताएँ हैं।

दर्शनान्तरों ने एवं प्रत्येक सज्ञान व्यक्ति ने इन विभिन्नताओं के कारण की मीमांसा की है और किसी न किसी रूप में अथवा प्रकारान्तर से जैन दर्शन की तरह कर्म को कारण माना है।

इसके अतिरिक्त जो दर्शन आस्तिक अर्थात् आत्मा, उसका पुनर्जन्म ,उसकी विकासशीलता तथा उसकी मोक्ष पाने की योग्यता मानने वाले हैं; उन्होंने किसी न किसी रूप में आत्मा के क्रमिक विकास का विचार किया है। यह विचार जैन दर्शन में गुणस्थान के नाम से, वैदिक दर्शन में भूमिकाएँ के नाम से और बौद्ध दर्शन में अवस्थाओं के नाम से प्रसिद्ध है। गुणस्थानों के वर्णन में जैसी सूक्ष्मता और विस्तृतता है, वैसी अन्य दर्शनों के वर्णन में नहीं है। फिर भी कुछ न कुछ समानता है। उसका यथास्थान संकेत किया जायेगा। लेकिन उसके पूर्व गुणस्थानों के माध्यम से यहाँ जैन दर्शन के विचार को प्रस्तुत करते हैं, जिससे ज्ञात होगा कि कर्मों से आवृत्त होने पर भी स्वभावतः उत्क्रान्तिशील आत्मा विकास पथ पर बढ़ती हुई स्वरूपबोध एवं स्वरूपलाभ द्वारा जन्म मरण के चक्र को भेदन कर अपने स्वरूप में कैसे स्थित होती है।

संसारी जीवों की विभिन्न अवस्थाओं के वर्णन की जैन-दर्शन की शैली:-

तीन लोक में अनन्त जीव हैं। उनके दो भेद हैं- संसारी और मुक्त। कर्म संबद्ध जीव संसारी है और जिसने कर्मक्षय करके आत्मस्वरूप को प्राप्त कर लिया है; वह मुक्त है। मुक्त जीव तो जन्म -मरण रूप संसार से सदा के लिए छूट जाते

हैं, लेकिन संसारी जीव उस समय तक 'पुनरपि जननं पुनरपि मरणं, पुनरपि जननी जठरे शयनम्' के चक्र में पड़े रह कर विविध प्रकार की योनियों में उत्पन्न होकर के विभिन्न प्रकार के शरीर धारण करते रहते हैं, जब तक कि वे मुक्त नहीं हो जाते।

जैन धर्म में इन सभी संसारी जीवों की विभिन्न अवस्थाओं का वर्णन विविधताओं को ध्यान में रख कर विचार पूर्वक किया गया है। कहीं यह वर्णन है कर्म की बंध, उदय आदि अवस्थाओं की अपेक्षा से, कहीं आत्म परिचयों की अपेक्षा से और कहीं उनकी इन्द्रियों आदि की संख्या की अपेक्षा से है। इस वर्णन में भी मुख्यता एवं गौणता को ध्यान में रखा गया है; जिससे यह बताया जा सके कि अमुक अमुक अव्यवस्थाएँ औपाधिक, वैभाविक अथवा कर्मजन्य होने से अस्थायी तथा हेय हैं तथा अमुक अवस्थाएँ स्वाभाविक होने से स्थायी और उपादेय हैं।

इस दृष्टि से किये गये संसारी जीवों के वर्णन के तीन प्रकार हैं - जीवस्थान, मार्गणास्थान और गुणस्थान। इसमें से प्रत्येक के चौदह-चौदह भेद हैं।

जीवस्थान के वर्णन से यह ज्ञात होता है कि जीवस्थानरूप चौदह अवस्थाएँ जातिसापेक्ष हैं और शारीरिक रचना के विकास अथवा इन्द्रियों की न्यूनाधिक संख्या पर निर्भर हैं। अर्थात् जीवस्थान में संसारी जीवों की शारीरिक रचना के विकास या इन्द्रियों की न्यूनाधिक संख्या पर विचार किया जाता है। जैसे - एकेन्द्रिय जीव के कितनी इंद्रियाँ होती हैं? आदि। ये सभी कर्मकृत या वैभाविक (संयोगज) होने के कारण अन्त में हेय हैं।

मार्गणास्थान के वर्णन से यह ज्ञात होता है कि सभी मार्गणाएँ जीव की स्वाभाविक अवस्थारूप नहीं है; किन्तु उनमें से कुछ स्वाभाविक अवस्था में हैं और शेष वैभाविक। जैसे - केवलज्ञान, केवलदर्शन, क्षायिक सम्यक्त्व, क्षायिक चारित्र और अनाहारकत्व के अतिरिक्त अन्य सभी मार्गणाएँ अस्वाभाविक होने से स्वरूप की पूर्णता के इच्छुक जीवों के लिए अन्त में हेय हैं। इसी प्रकार गुणस्थानों के वर्णन से यह ज्ञात होता होता है कि आध्यात्मिक उत्क्रान्ति करने वाले जीवों की उत्तरोत्तर विकास की सूचक भूमिकाएँ कौनसी हैं।

यहाँ प्रश्न होता है कि जीवस्थानों के वैभाविक होने से वे भले ही हेय हों, उपेक्षणीय हों; लेकिन स्वरूप की पूर्णता के इच्छुक जीवों के लिए मार्गणाएँ क्यों हेय मानी जाती हैं? तथा मार्गणाओं में भी जब जीवों की स्वाभाविक अवस्थाओं का वर्णन किया जाता है; तब गुणस्थानों में भी उन्हीं की पुनरावृत्ति करने की क्या जरूरत है? इसका उत्तर यह है कि मार्गणाएँ जीव के विकास की सूचक नहीं हैं; जब कि गुणस्थान जीव के विकास के सूचक हैं। ये विकास की क्रमिक अवस्थाओं के वर्गीकरण हैं। मार्गणाएँ सभी सहभावी हैं; किन्तु गुणस्थान क्रमभावी तथा पूर्व पूर्व

भूमिकाएँ हैं। उत्तरोत्तर भूमिका उपादेय होने पर भी पूर्ण विकास हो जाने पर सभी भूमिकाएँ स्वत: छूट जाती हैं। इसीलिए प्रत्येक जीव में एक साथ चौदह मार्गणाएँ किसी न किसी प्रकार से पायी जाती हैं। सभी संसारी जीव एक ही समय में प्रत्येक मार्गणा में वर्तमान पाये जाते हैं; लेकिन इसके विपरीत गुणस्थानक एक समय में एक जीव के एक ही पाया जाता है। एक समय में सब जीव किसी एक गुणस्थान के अधिकारी नहीं बन सकते; किन्तु उनका कुछ भाग ही एक गुणस्थान का अधिकारी होता है।

दूसरी बात यह है कि पूर्व पूर्व गुणस्थान को छोड़कर उत्तरोत्तर गुणस्थान को प्राप्त करना आध्यात्मिक विकास को बढ़ाता है; परन्तु पूर्व पूर्व मार्गणा को छोड़कर उत्तरोत्तर मार्गणा न तो प्राप्त ही की जा सकती है और न इससे आध्यात्मिक विकास ही सिद्ध होता है। जैसे विकास की तेरहवीं भूमिका-गुणस्थान तक पहुँचे हुए केवलज्ञानप्राप्त जीव में भी कषाय के सिवाय शेष सब मार्गणाएँ पायी जाती हैं; किन्तु गुणस्थानक केवल तेरहवाँ है। विकास की अन्तिम भूमिका प्राप्त जीव में भी तीन-चार को छोड़ कर शेष सब मार्गणाएँ होती हैं; जो कि विकास की बाधक नहीं हैं। किन्तु गुणस्थान उसमें केवल चौदहवाँ ही पाया जाता है।

तीसरी बात यह है कि अनन्त संसारी जीवों का मार्गणाओं द्वारा वर्गीकरण हो जाने पर भी किसी एक व्यक्ति के आधार से उन सब की कर्मबंधादि संबंधी योग्यता का दिग्दर्शन नहीं कराया जा सकता है और न यह संभव भी है। इसके अतिरिक्त एक व्यक्ति की कर्मबंधादि संबंधी योग्यता भी सदैव एक जैसी नहीं रहती; क्योंकि प्रतिपल परिणामों और विचारों के परिवर्तत होते रहने से बंधादि संबंधी योग्यता भी प्रति समय बदलती रहती है। इसीलिए अध्यात्म-विज्ञानियों ने संसारी जीवों का उनकी अभ्यन्तर शुद्धिजन्य उत्क्रान्ति तथा अशुद्धिजन्य अवक्रान्ति के आधार पर वर्गीकरण करके जो उनकी भूमिकाएँ बनती हैं; उन्हें शास्त्रीय परिभाषा में गुणस्थान यह सार्थक नाम दिया है।

गुणस्थानों का क्रम ऐसा है कि जिससे उन वर्गों में सभी संसारी जीवों की आध्यात्मिक स्थितियों का समावेश होने के साथ-साथ उनकी बंधादि संबंधी योग्यता को बतलाना सहज हो जाता है और एक जीव की योग्यता जो प्रति समय बदलती रहती है; उसका भी दिग्दर्शन किसी न किसी विभाग द्वारा किया जा सकता है तथा इससे यह बताना और समझना सरल हो जाता है कि अमुक प्रकार की आंतरिक शुद्धि या अशुद्धि वाला जीव इतनी और अमुक-अमुक कर्म प्रकृतियों के बंध, उदय, उदीरणा एवं सत्ता का अधिकारी है।

आध्यात्मिक विद्या के अभ्यासियों की यह स्वाभाविक जिज्ञासा होती है कि आत्मा किस प्रकार और किस क्रम से अपना आध्यात्मिक विकास करती है तथा विकास के समय कैसी कैसी अवस्था की अनुभूति करती है। इस दृष्टि से देखा जाये, तो अन्य विषयों की अपेक्षा गुणस्थान के वर्णन का महत्त्व अधिक है। अतः यहाँ गुणस्थान व उसके भेदों का स्वरूप प्रस्तुत करते हैं।

गुणस्थान का लक्षण व नाम

गुणस्थान गुण और स्थान इन दो शब्दों के योग से निष्पन्न पारिभाषिक शब्द है। इसकी पारिभाषिक व्याख्या करने के पूर्व जैन दर्शन में इसके प्रयोग और प्रचार के इतिहास पर दृष्टिपात कर लेना युक्ति-संगत होगा।

गुणस्थान शब्द का प्रयोग आगमोत्तर-कालीन टीकाकारों एवं आचार्यों द्वारा रचित कर्मग्रंथों एवं अन्य धार्मिक ग्रंथों में किया गया है। किन्तु आगमों में गुणस्थान के बदले जीवस्थान शब्द का प्रयोग देखने में आता है और आगमोत्तरकालीन ग्रंथों में जीवस्थान शब्द के लिए भूतग्राम शब्द प्रयुक्त किया गया है। समवायांग सूत्र में जीवस्थानों की रचना का आधार कर्मविशुद्धि कहा है और उसकी टीका में अभयदेवसूरिजी महाराज ने भी गुणस्थानों को ज्ञानावरणादि कर्मों की विशुद्धिजन्य बताया है। उनके अभिप्रायानुसार आगमों में जिन चौदह जीवस्थानों के नामों का उल्लेख है; वे ही नाम गुणस्थानों के हैं। ये चौदह जीवस्थान कर्मों के उदय, उपशम, क्षय, क्षयोपशम आदि भावाभावजनित अवस्थाओं से बनते हैं तथा परिणाम और परिणामी में अभेदोपचार होने से जीवस्थान को गुणस्थान कहते हैं। षट्खंडागम धवला टीका के अनुसार जीव गुणों में रहता है, अतः जीवसमास शब्द का प्रयोग देखने में आता है और इसका कारण स्पष्ट करते हुए लिखा है कि कर्म के उदय से उत्पन्न गुण औदयिक और कर्म के उपशम से उत्पन्न गुण औपशमिक है, कर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न गुण क्षायोपशमिक है, कर्म के क्षय से उत्पन्न गुण क्षायिक है और कर्म के उदय, उपशम, क्षय और क्षयोपशम के बिना स्वभावतः होनेवाला गुण पारिणामिक है। इन गुणों के सहचारी होने से जीवसमास शब्द का प्रयोग किया गया देखने में आता है तथा संक्षेप और ओघ ये दो गुणस्थान के पर्यायवाची शब्द बतलाये हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि आगमों में यद्यपि गुणस्थान शब्द का प्रयोग नहीं है; लेकिन उत्तरवर्ती आचार्यों द्वारा जिस आशय को अभिव्यक्त करने के लिए गुणस्थान शब्द का उपयोग किया गया है; उसके लिए वहाँ जीवस्थान शब्द रखा है। आगमोत्तरकालीन साहित्य में गुणस्थान शब्द के अधिक प्रचलित होने का कारण यह है कि औदयिक, औपशमिक, क्षायोपशमिक और क्षायिक गुण तो जीव में कर्म

की अवस्थाओं से संबंधित हैं, किन्तु पारिणामिक भाव एक ऐसा गुण है, जिसमें किसी अन्य संयोग की अपेक्षा नहीं होती। वह स्वाभाविक है। अत: इस गुण की प्रमुखता के कारण अभेदोपचार से जीव को भी गुण कहा और गुण की मुख्यता से पश्चात्वर्ती साहित्य में संभवत: गुणस्थान शब्द मुख्य एवं जीवस्थान शब्द गौण हो गया। कारण कुछ भी रहा हो, लेकिन आगमों और पश्चात्वर्ती साहित्य में शाब्दिक भेद होने पर भी गुणस्थान व जीवस्थान शब्द का आशय एक ही है। इसमें किसी प्रकार की मत-भिन्नता नहीं है। अर्थात् गुणस्थान शब्द आगमों में उल्लिखित जीवस्थान शब्द का अपर नाम है।

गुणस्थान शब्द का अर्थ है—गुणों (आत्मशक्तियों) का स्थान। अर्थात् ज्ञान-दर्शन-चारित्ररूप जीवस्वभाव-विशेष आत्मा के विकास की क्रमिक अवस्था अथवा आत्मिक शक्तियों के आविर्भाव की, उनके शुद्ध कार्यरूप में परिणत होते रहने की तरतम भावापन्न अवस्था में क्रमश: शुद्ध और विकास करती हुई आत्म-परिणति का स्थान अथवा कर्मों की उदय, उपशम, क्षय, क्षयोपशम आदि अवस्था से होने वाले परिणामों का स्थान। उन उन परिणामों से युक्त जीव उस उस गुणस्थान वाले कहे जाते हैं।

यद्यपि आत्मा का वास्तविक स्वाभाविक रूप तो शुद्ध चैतन्यमय तथा ज्ञान एवं आनन्दमय है। वह सच्चिदानन्दघन है। लेकिन उस पर जब तक कर्मों के तीव्र आवरणों की घटा छाई रहती है; तब तक उसका असली स्वरूप दृष्टिगोचर नहीं होता।आवरणों की घनता अपनी चरम सीमा पर होती है; तब आत्मा अविकसित दशा की अंतिम अवस्था में पड़ी रहती है और जब आवरण नि:शेष रूप से नष्ट हो जाते हैं; तब आत्मा अपने पूर्ण शुद्ध स्वरूप में स्थित हो जाती है। वह निजानन्द रस में लीन हो जाती है। चरम अविकसित अवस्थापन्न आत्मा के आवरणों की घनता जैसे-जैसे कम होती जाती है; वैसे-वैसे आत्मा भी प्राथमिक शुद्ध अवस्था की ओर आगे बढ़ती है। आगे बढ़ते समय इन दोनों अवस्थाओं के बीच उसे अनेक ऊँची-नीची अवस्थाओं का अनुभव करना पड़ता है।

ये मध्यवर्तिनी अवस्थाएँ अपेक्षा दृष्टि से ऊँची और नीची कहलाती हैं। अर्थात् मध्यवर्तिनी कोई भी अवस्था अपने से ऊपरवाली अवस्था की अपेक्षा से नीची और नीचे वाली अवस्था की अपेक्षा से ऊँची कहलाती है। विकास की ओर अग्रसर आत्मा यद्यपि उस प्रकार की संख्यातीत आध्यात्मिक भूमिकाओं का अनुभव करती है; लेकिन उन सब का संक्षेप में वर्गीकरण करके चौदह विभाग किये गये हैं। वे चौदह गुणस्थान कहलाते हैं। उनके नाम इस प्रकार हैं -

१. मिथ्यादृष्टि, २. सास्वादन सम्यग्दृष्टि, ३. सम्यग्-मिथ्यादृष्टि, (मिश्र) ४. अविरत सम्यग्दृष्टि, ५. देशविरत, ६. प्रमत्तसंयत, ७. अप्रमत्तसंयत, ८. निवृत्ति (अपूर्वकरण) ९. अनिवृत्ति बादर संपराय, १०. सूक्ष्म संपराय, ११. उपशान्त-कषाय वीतराग-छद्मस्थ, १२. क्षीण-कषाय वीतराग-छद्मस्थ, १३. सयोगी केवली और १४. अयोगी केवली।

ये गुणस्थान (आत्म-स्वरूप-विशेष) ज्ञान, दर्शन, चारित्र आदि आत्मगुणों की शुद्धि और अशुद्धि के तरतम भाव से होते हैं। जब आत्मा का आवरणभूत कर्म शिथिल, कम या निर्जीर्ण हो जाता है; तब ज्ञानादि आत्मगुणों की शुद्धि अधिक प्रकट होती है और यदि आवरणभूत कर्म की अधिकता बढ़ती है; तो गुणों की शुद्धि कम और अशुद्धि अधिक बढ़ जाती है। गुणस्थान के उक्त चौदह भेदों में यही दृष्टिकोन समाविष्ट है।

ये चौदह गुणस्थान मोक्ष प्राप्त करने में सीढ़ियों के समान हैं। जैसे मकान की ऊपरी मंजिल पर चढ़ने के लिए सीढ़ियाँ होती हैं; वैसी ही गुणस्थानों की भी स्थिति है। पूर्व पूर्व गुणस्थानों से उत्तर उत्तर के गुणस्थानों में शुद्धि के बढ़ने से अशुभ प्रकृतियों की अपेक्षा शुभ प्रकृतियों का बंध आदि अधिक होता है। और फिर इन शुभ प्रकृतियों का भी बंध-विच्छेद होते जाने से शुद्धात्मदशा-मोक्षदशा प्राप्त हो जाती है।

गुणस्थानों की व्यवस्था और उनमें भेद

सामान्यतया आध्यात्मिक दृष्टि से जगत के जीवों के दो प्रकार हैं -

१. मिथ्यादृष्टि अर्थात् मिथ्यात्वी और २. सम्यग्दृष्टि अर्थात् सम्यक्त्वी। कितने ही जीव गाढ़ अज्ञान और विपरीत बुद्धिवाले होते हैं और कितने ही ज्ञानी, विवेकशील, सम्यग्दृष्टिवाले, प्रयोजनभूत लक्ष्य-तत्त्व के मर्मज्ञ और आदर्श का अनुसरण करके जीवन बिताने वाले होते हैं। इन दोनों प्रकार के जीवों में से अज्ञानी और विपरीत बुद्धिवालों को मिथ्यादृष्टि कहते हैं। ऐसे जीवों का बोध कराने के लिए पहला मिथ्यादृष्टि अर्थात्-मिथ्यात्व गुणस्थान है।

सम्यक्त्व-धारकों में तीन भेद हो जाते हैं - १. सम्यक्त्व से गिरते समय स्वल्प सम्यक्त्व वाले, २. अर्ध सम्यक्त्व और अर्ध मिथ्यात्व वाले और ३. विशुद्ध सम्यक्त्व वाले किन्तु चारित्ररहित। इन तीनों भेदों में से स्वल्प सम्यक्त्व वाले जीवों के लिए दूसरा सास्वादन गुणस्थान, अर्ध सम्यक्त्व व अर्ध मिथ्यात्व वाले जीवों के लिए तीसरा सम्यग् मिथ्यादृष्टि (मिश्र) गुणस्थान और विशुद्ध सम्यक्त्व किन्तु चारित्र रहित जीवों के लिए चौथे अविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान का कथन किया गया है।

यह बात तो हुई मिथ्यात्व और चारित्र-रहित सम्यक्त्व की अपेक्षा से गुणस्थानों की व्यवस्था की; लेकिन जो जीव सम्यक्त्व और चारित्र सहित हैं; उनके भी दो प्रकार हैं- १. एक देश (आंशिक) चारित्र का पालन करने वाले और २. संपूर्ण चारित्र का पालन करने वाले। इन दोनों प्रकारों में से पहले प्रकार के चारित्र का पालन करने वाले जीवों का ग्रहण करने के लिए पाँचवें देशविरत गुणस्थान का कथन है तथा संपूर्ण चारित्र का पालन करने वालों में संयम पालन करने में प्रमादवश अतिचार दोष लगाने वाले प्रमत्त-संयत नामक छठे गुणस्थान वाले और प्रमाद के अभाव से निर्दोष चारित्र का पालन करने वाले अप्रमत्त संयत नामक सातवें गुणस्थान वाले कहलाते हैं।

अप्रमत्त संयत गुणस्थानवर्ती जीवों ने अभी पूर्ण वीतराग अवस्था प्राप्त नहीं की है। वे छद्मस्थ अर्थात् कर्मावृत्त हैं और वीतराग दशा प्राप्त करने की ओर उन्मुख होते हैं। अत: अप्रमत्त संयत गुणस्थानवर्ती जीवों में से कितने ही कर्मों का व्यवस्थित रीति से क्षय करने के लिए श्रेणीक्रम पर आरोहण करते हैं और उनके परिणाम शुद्ध से शुद्धतर होते जाते हैं। श्रेणी का यह क्रम पहले समय की अपेक्षा दूसरे समय में और दूसरे समय की अपेक्षा तीसरे समय में अपूर्व ही होता है। इस श्रेणीक्रम में एक की दूसरे से, दूसरे की तीसरे से आदि तुलना या समानता नहीं होती। अत: ऐसी श्रेणीक्रम स्थितिवाले जीव निवृत्ति (अपूर्व-करण) नामक आठवें गुणस्थानवर्ती जीव कहलाते हैं। यद्यपि श्रेणी आरोहण के कारण प्राप्त क्रमिक शुद्धता के बढ़ने से जीव के कषाय भावों में काफी निर्बलता आ जाती है; फिर भी उन कषायों में पुन: उद्रेक होने की शक्ति बनी रहती है। अत: ऐसे कषाय परिणाम वाले जीवों का बोध कराने के लिए आठवें के बाद नौवें अनिवृत्ति बादर संपराय नामक गुणस्थान का क्रम है।

नौवें गुणस्थानवर्ती जीव के द्वारा प्रति समय कषायों को कृश करने के प्रयत्न जारी रहते हैं और वैसा होने से एक समय ऐसी स्थिति आ जाती है; जब संसार के कारणभूत कषायों की एक झलक सी शेष रह जाती है। इस स्थिति वाले जीव सूक्ष्म संपराय नामक दसवें गुणस्थानवर्ती जीव कहलाते हैं। जैसे झाँई-मात्र अति सूक्ष्म अस्तित्व रखने वाली वस्तु तिरोहित अथवा नष्ट हो जाती है; वैसे ही जो कषाय-वृत्ति अत्यन्त कृश हो गयी है, उसके शान्त-उपशमित अथवा पूर्ण रूप से नष्ट हो जाने से जीव को अपने शुद्ध निर्मल स्वभाव के दर्शन होते हैं। इस प्रकार की शान्त और नष्ट इन दोनों स्थितियों को बतलाने के लिए क्रमश: ग्यारहवाँ उपशान्त मोह वीतराग और बारहवाँ क्षीण मोह वीतराग नामक गुणस्थान है।

मोहनीय कर्म के क्षय के साथ साथ ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय इन तीन घाती कर्मों का क्षय होने से जीव ने अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन आदि निज गुणों

को तो पूर्ण रूपेण प्राप्त कर लिया है; लेकिन अभी भी शरीरादि योगों का संबंध बना रहने से योग युक्त वीतरागी जीव सयोगी केवली नामक तेरहवें गुणस्थानवर्ती कहलाते हैं।

जब शरीरादि योगों से रहित शुद्ध ज्ञान दर्शन युक्त स्वरूप-रमणता आत्मा में प्रकट होती है; तब उसे अयोगी केवली नामक चौदहवाँ गुणस्थान कहते हैं। इस दशा को प्राप्त करना जीव का परम लक्ष्य होता है और इसे प्राप्त करने के बाद सदा सदा के लिए संसार-भाव का नाश करके जीव शाश्वत, निर्मल, सिद्ध, बुद्ध चैतन्य रूप में रमण करता है।

इन चौदह गुणस्थानों में से आदि के चार गुणस्थानों तक दर्शनमोह की तथा इसके ऊपर चारित्रमोह की अपेक्षा प्रधान है। पहले मिथ्यात्व गुणस्थान में औदयिक भाव होते हैं। दूसरे गुणस्थान में पारिणामिक भाव, तीसरे गुणस्थान में क्षायोपशमिक भाव और चौथे गुणस्थान में औपशमिक, क्षायिक और क्षायोपशमिक ये तीनों ही भाव होते हैं।

पाँचवें आदि गुणस्थानों में चारित्र मोहनीय कर्म के उपशम आदि की अपेक्षा है। अत: पाँचवें, छठे, सातवें गुणस्थान में चारित्र मोहनीय की अपेक्षा से क्षायोपशमिक भाव तथा सातवें से ऊपर उपशम श्रेणी वाले आठवें, नौवें, दसवें तथा ग्यारहवें गुणस्थान में औपशमिक भाव होते हैं। इसी प्रकार क्षपक श्रेणी वाले उक्त तीनों गुणस्थानों तथा बारहवें, तेरहवें और चौदहवें गुणस्थान में और सिद्धों में नियमत: क्षायिक भाव ही होते हैं। क्योंकि उपशम श्रेणी वाला संपूर्ण चारित्र-मोहनीय कर्म का उपशम करता है। इसी तरह क्षपक श्रेणी वाला तथा सयोगी केवली, अयोगी केवली और सिद्ध परमात्मा में चारित्र मोहनीय कर्म का नि:शेष रूप से क्षय हो जाता है; अत: इनमें क्षायिक भाव होते हैं।

यदि सामान्य से गुणस्थानों में भावों का विचार किया जाये; तो पहले, दूसरे और तीसरे गुणस्थान में औदयिक, क्षायोपशमिक और पारिणामिक ये तीन भाव हैं। चौथे से दसवें तक औदयिक, औपशमिक, क्षायोपशमिक, क्षायिक और पारिणामिक ये पाँचों भाव हैं। ग्यारहवें गुणस्थान में क्षायिक के सिवाय शेष चार भाव, बारहवें गुणस्थान में औपशमिक के सिवाय शेष चार भाव तथा तेरहवें गुणस्थान में औदयिक, क्षायिक और पारिणामिक भाव एवं सिद्धों के क्षायिक और पारिणामिक भाव होते हैं।

सर्व गुणस्थानों में विरताविरतत्व अथवा प्रमत्ताप्रमत्तत्व आदि का निर्देश -

गुणस्थानों के नामों में जो चौथे गुणस्थान के लिए अविरत विशेषण दिया है; वह अन्तर्दीपक न्याय का बोधक है। अर्थात् वह अपने सहित नीचे के पहले, दूसरे

और तीसरे गुणस्थान के असंयतपने का निरूपण करता है। अर्थात् इससे ऊपर के गुणस्थानों में संयमासंयम या संयम होता है; किन्तु नीचे के गुणस्थानों में संयम होता ही नहीं है। चौथे गुणस्थान तक के सब गुणस्थान असंयत हैं और इससे ऊपर के संयतासंयत या संयत। चौथे गुणस्थान में जो सम्यग्दृष्टि पद है, उसकी नदी के प्रवाह के समान आगे के सभी गुणस्थानों में अनुवृत्ति होती है। अर्थात् पाँचवें आदि समस्त गुणस्थानों में सम्यग्दर्शन पाया जाता है। छठे गुणस्थान में जो प्रमत्त शब्द आया है; वह अन्तर्दीपक न्याय का बोधक है। वह पहले से लेकर छठे गुणस्थान तक सब गुणस्थानों में प्रमाद के अस्तित्व को सूचित करता है; किन्तु इससे आगे सातवाँ आदि गुणस्थान अप्रमत्त हैं।

नौवें गुणस्थान में जो 'बादर' पद का ग्रहण किया गया है, वह भी अन्तर्दीपक न्याय का बोधक होने से पूर्ववर्ती समस्त गुणस्थान बादर कषाय हैं; इस बात का बोध कराने के लिए है। याने उन सब गुणस्थानों में कषायों की सत्ता रहती है। बारहवें गुणस्थान में जो छद्मस्थ पद आया है; वह भी अन्तर्दीपक न्याय का बोधक है। अर्थात् उससे पूर्ववर्ती सब गुणस्थानों को सावरणत्व अर्थात् छद्मस्थत्व के सूचक समझना चाहिये। याने बारहवें गुणस्थान तक कर्मावरण रहता है। तेरहवें गुणस्थान में जो 'सयोग' पद ग्रहण किया गया है; वह भी अन्तर्दीपक न्याय का बोधक होने से नीचे के समस्त गुणस्थानों के सयोगीपने का प्रतिपादक है।[१]

गुणस्थान क्रमारोहण का मुख्य आधार -

पूर्व में बताया गया है कि घाती कर्मों का कार्य आत्म शक्ति को आवृत्त या आच्छादित करना है और उनमें भी मोहनीय कर्म सब में प्रधान है। यह संपूर्ण संसार मोह की ही लीला है। इसी कारण मोहनीय कर्म को सब कर्मों का राजा कहा है।[२] इसका आवरण सघनतम है। अर्थात् जब तक मोहनीय कर्म बलवान और तीव्र है; तब तक अन्य सब कर्मावरण बलवान और तीव्र बने रहते हैं और जैसे ही मोहनीय कर्म निर्बल होता है; वैसे ही अन्य आवरणों की भी वैसी ही स्थिति बन जाती है। इसीलिए आत्मा के विकास में मुख्य बाधक मोह की प्रबलता और मुख्य सहायक मोह की निर्बलता है। इसी कारण आत्मा के विकास की क्रमागत अवस्थाओं-गुण-स्थानों की आधार-भूमि मोह की उत्कटता और मंदता तथा क्षय पर अवलंबित है।

---

१. धवला १। १, १, १२-२१

२. अष्ट कर्मनो राजवी जे मोह प्रथम क्षय कीध। - विनयचंद चौवीसी

मोह की दो प्रधान शक्तियां हैं—दर्शन मोहनीय और चारित्र मोहनीय। दर्शन मोहनीय के कारण स्व-पर रूप का निर्णय और यथार्थ दृष्टि—सम्यग्दर्शन नहीं हो सकता। अर्थात् दर्शनमोहनीय स्वरूप-पररूप का निर्णय अथवा जड़ चेतन का विभाग या विवेचन नहीं करने देता और चारित्र मोहनीय आत्मा को विवेक प्राप्त कर लेने पर भी तदनुसार प्रवृत्ति अर्थात् पर-परिणति से छुटकारा दिला कर स्वरूप-लाभ (सम्यक् चारित्र) नहीं होने देता। व्यवहार में भी यही देखा जाता है कि वस्तु का यथार्थ बोध (दर्शन) कर लेने के बाद ही उस वस्तु की प्राप्ति या उसे त्यागने की चेष्टा की जाती है और उसमें सफलता भी मिलती है।

आध्यात्मिक विकासोन्मुखी आत्मा के लिए भी ये ही दो कार्य हैं। पहला स्वरूप-पररूप का यथार्थ दर्शन कर विज्ञान करना और दूसरा स्वरूप-रमणता अर्थात् स्वरूप में स्थित होना। जब तक दर्शन मोहरूप प्रथम शक्ति प्रबल है; तब तक उसकी अनुगामिनी चारित्र-मोहरूप दूसरी शक्ति भी निर्बल नहीं होती और दर्शनमोह के मन्द, मन्दतर और मन्दतम होने के साथ ही दूसरी शक्ति चारित्रमोह भी क्रमशः वैसी ही होने लगती है। सारांश यह है कि एक बार आत्मा स्वरूप-बोध कर ले; तो उसे स्वरूप-लाभ करने का मार्ग प्रशस्त हो जाता है।

इस प्रकार गुणस्थान क्रमारोहण में मोहनीय कर्म का मन्द, मन्दतर, मन्दतम और क्षय होना मूलाधार है और इसी आधार पर गुणस्थानों के क्रम का निर्धारण किया गया है।

मोहनीय कर्म की क्षय प्रक्रिया का रूप

आत्मा की सघनतम आवृत्त अथवा सर्वथा अविकसित अथवा अधःपतित अवस्था प्रथम मिथ्यात्व गुणस्थान है। इसमें मोहनीय कर्म की दोनों शक्तियों के प्रबलतम होने से आत्मा की आध्यात्मिक स्थिति अत्याधिक अविकसित होती है; फिर भी उसकी ज्ञानादि शक्तियों का अनन्तवाँ भाग तो उद्घाटित रहता है।[१] अन्यथा आत्मा का अस्तित्व ही न रहे,आत्मा आत्मा ही न कहलाये और जड़-चेतन में अन्तर ही न रहे।

इस भूमिका के समय आत्मा चाहे जितनी आधिभौतिक उन्नति कर ले; लेकिन उसकी प्रवृत्ति आध्यात्मिक, तात्त्विक लक्ष्य से सर्वथा शून्य ही होती है। जैसे दिग्भ्रान्त व्यक्ति अपने गन्तव्य तक पहुँचने के लिए पश्चिम को पूर्व मान कर यदि गति करे; तो वह अपने इष्ट को प्राप्त नहीं कर पाता। उसका श्रम व्यर्थ जाता है। वैसे ही प्रथम

---

१. नन्दी सूत्र-७५

भूमिका में अवस्थित आत्मा पररूप को स्वरूप समझ कर उसी को प्राप्त करने के लिए लालायित रहती है और अपनी विपरीतदृष्टि-मिथ्यादृष्टि के कारण राग-द्वेष आदि वैभाविक विकारों की शिकार बन कर तात्त्विक ज्ञान से वंचित रह जाती है। इसी भूमिका को जैन शास्त्रों में बहिरात्मभाव भी कहा है और इस दशापन्न आत्मा को बहिरात्मा कहा है।

इस भूमिका में विद्यमान आत्माओं में सब की स्थिति एक सी नहीं होती। अर्थात् मोह की दोनों शक्तियों का सामान्यत: सब पर आधिपत्य होने पर भी उसमें अल्पाधिक तारतम्य अवश्य होता है। किसी पर मोह का प्रभाव गाढ़तम होता है, किसी पर गाढ़तर, किसी पर गाढ़ और किसी पर उससे भी कम होता है।

विकास करना आत्मा का स्वभाव है। अत: जानते या अनजानते जब उस पर मोह का प्रभाव कम होने लगता है; तब वह आत्मा कुछ विकास की ओर अग्रसर हो जाती है और तीव्रतम राग-द्वेष रूपी गाँठ को कुछ मंद करती हुई मोह की प्रथम शक्ति दर्शनमोह को छिन्नभिन्न करने योग्य क्षमता अर्जित कर आत्मबल प्रकट कर लेती है। दर्शनमोह को छिन्न-भिन्न करने योग्य बल को प्रकट करने की स्थिति के लिए जैन शास्त्रों में ग्रंथिभेद शब्द का प्रयोग किया गया है।

ग्रंथि का स्वरूप-भेद-स्थिति -

ग्रंथि का अर्थ है गाँठ। गाँठ जहाँ कहीं भी हो; चाहे फिर वह क्षेत्र लोकजीवन का हो या आध्यात्मिक जीवन का, जड़ वस्तु हो या चेतन वस्तु; सर्वत्र कर्कश, घन, गूढ़ विषकुंभ ही होती है। यह विजातीय विकारों की-विचारों की संपुटिका होती है। प्रस्तुत में भी ग्रंथि से ऐसे ही जीव के कर्मजनित निबिड़तमरूप से संघातीभूत हुए राग-द्वेष आदि वैभाविक परिणामों का संकेत है। यह ग्रंथि बड़ी ही दुर्भेद्य, दुस्त्याज्य और दुष्प्रेक्षणीय होती है।[१] इसके भेदन का कार्य बड़ा विषम है। यह ग्रंथिभेद राग-द्वेष और आत्मशक्तियों के बीच होनेवाला द्वन्द्व-युद्ध है। एक तरफ राग-द्वेष अपने पूर्ण बल का प्रयोग करते हैं, और दूसरी तरफ विकासोन्मुख आत्मा भी उनके प्रभाव को कम करने के लिए, उन्हें निष्क्रिय-निस्तेज बनाने के लिए अपने वीर्य-बल का प्रयोग करती है। इस प्रतिद्वन्द्विता में कभी मानसिक विकार विजयी होते हैं; तो कभी आत्मा जयलाभ करती है।

अनेक आत्माएँ ऐसी होती हैं; जो करीब करीब ग्रंथिभेद करने लायक बल प्रकट करके भी अन्त में राग-द्वेष के तीव्र प्रहारों से आहत हो कर तथा हार खा कर

---

१. गंठि त्ति सुदुब्भेओ, कक्खडघण रूढ़ मूढ गंठि व्व।
जीवस्स कम्मजणिओ, घण रागद्दोस परिणामो॥ - विशेषावश्यक भाष्य ११९५

पुन: अपनी मूल-स्थिति में आ जाती हैं और अनेक बार प्रयत्न करने पर भी राग-द्वेष को पराजित नहीं कर पातीं।

अनेक आत्माएँ ऐसी भी होती हैं; जो न तो पराजित हो कर युद्ध से मुँह मोड़ती हैं और न-ही जयलाभ कर पाती हैं। वे चिरकाल तक समरांगण में डटी रहती हैं। कोई कोई आत्माएँ ऐसी भी होती हैं; जो अपनी शक्ति का यथोचित प्रयोग करके उस आध्यात्मिक युद्ध में राग-द्वेष को पराजित कर जयलाभ करती हैं अर्थात् मोक्ष के कारणभूत सम्यक्त्व को प्राप्त कर लेती हैं।[१]

उक्त भाव को समझाने के लिए शास्त्रों में एक दृष्टान्त दिया गया है। वह इस प्रकार है-तीन पथिक कहीं जा रहे थे। मार्ग में चोर दिखाई देने से एक तो चोरों को देखते ही भाग गया। दूसरा डर कर भागा नहीं। उसने चोरों का सामना किया; पर वह चोरों द्वारा पकड़ लिया गया। तीसरा अपने बल, पुरुषार्थ और कौशल से उन चोरों पर विजय प्राप्त कर आगे बढ़ गया। इस दृष्टान्त से मानसिक विकारों और आत्मा के बीच होने वाले द्वन्द्व युद्ध में प्राप्त जय-पराजय का यत्किंचित् अनुमान लगाया जा सकता है।[२]

लोकजीवन में भी इसी प्रकार की तीन स्थितियों के दर्शन होते हैं। कोई कठिनाइयों पर विजय प्राप्त करके कीर्तिशाली बनता है, कोई न तो कठिनाइयों को जीत पाता है और न ही पीछे हटता है और कोई कठिनाइयों से डर कर पलायन कर जाता है। इससे उसका श्रम व्यर्थ हो जाता है। जैसे किसी के शरीर में विषैला फोड़ा हो गया हो और वह शरीर के अन्दर ही अन्दर अपना विष फैलाता जाये; तो शरीर के नाश तक की स्थिति बन जाती है। उस फोड़े को ऊपर लाने और मवाद निकालने के लिए यदि डॉक्टर उस स्थान पर छिद्र बनाने का प्रयत्न करे; तो वह कभी उसमें सफल हो जाता है। कभी वह प्रयत्न करता रहता है; लेकिन निश्चित स्थान ज्ञात न होने से उसे पूरी सफलता नहीं मिलती और कभी प्रयत्न करने पर भी निश्चय नहीं कर पाने से वह अपना प्रयत्न छोड़ देता है। इस कारण रोगोन्मूलन के लिए किया जाने वाला श्रम और कार्य व्यर्थ हो जाता है।

---

१. भिन्नम्मि तम्मि लाभो, सम्मत्ताईण मोक्खहेऊणं।
सो य दुल्लभो परिसक्तिय विधायाइ विग्घेहिं॥
सो तत्थ परिस्सम्मइ, घोर महासमर निग्गयाइ व्व।
विजया व सिद्धिकाले, जह बहु विग्घा तहा सो वि॥

- विशेषावश्यक भाष्य ११९६-९७

२. (क) विशेषावश्यक भाष्य १२११- १२१२ (ख) लोकप्रकाश ३/६१९ - २०-२१

आध्यात्मिक विकास के क्षेत्र में भी ग्रंथिभेद की यही स्थिति है। राग-द्वेष की तीव्रतम विषग्रंथि यदि एक बार शिथिल या छिन्न-भिन्न हो जाये; तो कर्ममुक्ति का द्वार ही खुल जाता है। क्योंकि इसके बाद मोह की प्रधान शक्ति दर्शनमोह को शिथिल होने में देर नहीं लगती और दर्शनमोह के शिथिल होते ही चारित्रमोह की शिथिलता स्वयमेव होने लगती है।

ग्रंथिभेद का क्रम -

प्रथम मिथ्यात्व गुणस्थान में रहने वाली विकासगामिनी ऐसी अनेक आत्माएँ होती हैं; जो राग-द्वेष के तीव्रतम वेग को थोड़ा सा दबाये हुए होने पर भी मोह की प्रधान शक्ति दर्शनमोह की शिथिल किये हुए नहीं होतीं। इस कारण वे आध्यात्मिक लक्ष्य के प्रति सर्वथा अनुकूलगामिनी न होने पर भी अन्य आत्माओं की अपेक्षा अपने बोध और चारित्र में अच्छी होती हैं। ये आत्माएँ भी यद्यपि आध्यात्मिक दृष्टि से सर्वथा आत्मोन्मुख न होने के कारण मिथ्यादृष्टि, विपरीतदृष्टि या असद्दृष्टि कहलाती हैं; तथापि सद्दृष्टि के निकट होने के कारण उपादेय मानी जाती हैं।

बोध, वीर्य और चारित्र के तर-तम भाव की अपेक्षा से उस असद्दृष्टि के चार भेद करके मिथ्यादृष्टि गुणस्थान की अन्तिम अवस्था का शास्त्रों में अच्छा विवरण दिया गया है। इन चार दृष्टियों में जो वर्तमान होते हैं; उन्हें सद्दृष्टि लाभ करने में देर नहीं लगती।

इसी प्रकार सद्बोध, वीर्य और चारित्र के तर-तम भाव की अपेक्षा से सद्दृष्टि के भी शास्त्रों में चार विभाग किये गये हैं। इनमें मिथ्यादृष्टि त्याग कर अथवा मोह की एक या दोनों शक्तियों को जीत कर आगे बढ़ी हुई सभी विकसित आत्माओं का समावेश हो जाता है।

सारांश यह है कि जिसमें आत्मा का स्वरूप भासित होता है और उसकी प्राप्ति के लिए ही मुख्य प्रवृत्ति होती है; वह सद्दृष्टि है और इसके विपरीत जिसमें आत्मा का स्वरूप न तो यथावत् भासित होता है और न उसकी प्राप्ति के लिए ही प्रवृत्ति होती है; वह असद्दृष्टि है। इन दोनों के बोध, वीर्य और चारित्र के तर-तम भाव को लक्ष्य में रख कर चार-चार भेद होते हैं। इनमें विकासगामिनी आत्माओं का समावेश हो जाता है।

अब प्रश्न होता है कि मिथ्यादृष्टि के भी आवरण की शिथिलता की स्थिति कैसे बनती है ? तो इसका कारण है- शारीरिक और मानसिक दुःखों की संवेदना। इस संवेदना के कारण अज्ञात रूप में ही 'गिरि-नदी-पाषाण न्याय' से आत्मा का आवरण कुछ शिथिल हो जाता है और इसके कारण उसके अनुभव एवं वीर्योल्लास

की आभा कुछ बढ़ती है और विकासगामिनी आत्मा के परिणामों में कुछ शुद्धि व कोमलता बढ़ती है। इस कारण वह राग-द्वेष की तीव्रतम दुर्भेद्य ग्रंथि को विखंडित करने की योग्यता बहुत अंशों में प्राप्त कर लेती है। इस अज्ञान पूर्वक दुःख-संवेदना जनित अति आत्मशुद्धि के लिए जैन दर्शन में 'यथाप्रवृत्तिकरण' शब्द का प्रयोग किया गया है।

इसके बाद जब कुछ और अधिक आत्मशुद्धि एवं वीर्योल्लास की आभा बढ़ती है; तब राग-द्वेष की उस दुर्भेद्य ग्रंथि का भेदन किया जाता है। इस ग्रंथि-भेदकारक आत्मशुद्धि की क्रिया को अपूर्वकरण कहते हैं; क्योंकि ऐसा करण-परिणाम विकासगामिनी आत्मा के लिए अपूर्व होता है। यह उसे प्रथम बार प्राप्त होता है।

इसके बाद आत्मशुद्धि और वीर्योल्लास की मात्रा कुछ अधिक बढ़ती है; तब आत्मा मोह की प्रधान शक्तियों पर-दर्शन मोह पर अवश्य विजय प्राप्त करती है। इस विजयकारक आत्मशुद्धि के लिए जैन दर्शन में 'अनिवृत्तिकरण' शब्द का उपयोग किया गया है; क्योंकि इस प्रकार की आत्मशुद्धि होने के बाद आत्मा दर्शनमोह पर जयलाभ किये बिना नहीं रहती।

उक्त तीन प्रकार की शुद्धियों में दूसरी अपूर्वकरण नामक शुद्धि ही अत्यन्त दुर्लभ है; क्योंकि राग-द्वेष के तीव्रतम वेग को रोकने का अति दुष्कर श्रमसाध्य कार्य इसी के द्वारा किया जाता है। वह सहज नहीं है। एक बार इस कार्य में सफलता मिल जाने पर फिर चाहे विकासगामिनी आत्मा ऊपर की किसी भूमिका से पतित भी हो जाये; तो भी वह कभी न कभी पुनः अपने लक्ष्य को-आध्यात्मिक पूर्ण विकास को प्राप्त कर ही लेती है। इस आध्यात्मिक परिस्थिति का कुछ स्पष्टीकरण एक दृष्टान्त द्वारा करते हैं।

जैसे कोई मैला वस्त्र हो और उसमें चिकनाहट भी लगी हो; तो उसका ऊपर ऊपर से मैल दूर करना उतना कठिन और श्रमसाध्य नहीं है, जितना कि चिकनाहट को दूर करना। यदि एक बार चिकनाहट दूर हो जाये; तो फिर शेष मैल को दूर करने में विशेष श्रम नहीं पड़ता और वस्त्र को उसके असली स्वरूप में सहज ही लाया जा सकता है।

उक्त तीनों प्रकारों के बल प्रयोगों में चिकनाहट को दूर करने वाला बलप्रयोग ही विशिष्ट है। वैसे ही दर्शनमोह को जीतने के पहले विकासगामिनी आत्मा को उसके रक्षक राग-द्वेष के तीव्र संस्कारों को शिथिल करने के लिए तीन बार बल प्रयोग करना पड़ता है। उनमें दूसरी बार किया जाने वाला बलप्रयोग ही प्रधान है;

क्योंकि उसके द्वारा राग-द्वेष की तीव्रतम ग्रंथि भेदी जाती है और राग-द्वेष की अति तीव्रता को मिटा देने पर दर्शनमोह पर जयलाभ करना सहज हो जाता है।

दर्शनमोह को जीतते ही उसके पहले गुणस्थान की समाप्ति हो जाती है, स्वरूप-बोध की भूमिका बँध जाती है और पररूप में होनेवाली स्वरूप की भ्रांति दूर हो जाती है तथा उसके प्रयत्नों की गति उल्टी न हो कर सीधी हो जाती है। याने वह आत्मा कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य का विवेक कर सहज शुद्ध परमात्म-भाव के दर्शन करने लगती है।

आत्मा की इस अवस्था को जैन दर्शन में अन्तरात्म-भाव कहा गया है; क्योंकि यह आत्म मंदिर का प्रवेश द्वार है। इसमें प्रवेश करके उस मंदिर में अधिष्ठित परमात्म-भाव का दर्शन किया जाता है। अथवा इसे मोक्ष-प्रासाद के प्रवेश-द्वार की प्रथम सीढ़ी भी कह सकते हैं।

आत्मा की यह अवस्था विकासक्रम की चौथी भूमिका अर्थात् चौथा गुणस्थान है। इसे पाकर आत्मा पहले पहल आध्यात्मिक सुख-शान्ति का अनुभव करती है। इस भूमिका में आध्यात्मिक दृष्टि यथार्थ आत्म-स्वरूपोन्मुख होने के कारण विपरीताभिनिवेश रहित होती है। इसका शास्त्रीय नाम सम्यक्त्व है।[१]

यथाप्रवृत्तिकरण आदि के लक्ष्य व प्रक्रिया

पूर्व में बताया गया है कि अपनी विपरीत दृष्टि के कारण जीव अनादि काल से संसार में घूम रहा है और गिरि, नदी, पाषाणवत् दुःखों को सहते सहते कभी वह कोमल शुद्ध परिणामी बन जाता है। यद्यपि सम्यक्त्व होने से पूर्व तक इस मिथ्यादृष्टि जीव के पूर्वोत्तर समयवर्ती परिणामों में सदृशता होती है, फिर भी प्रति समय अनन्तगुणी विशुद्धि, अप्रशस्त प्रकृतियों का केवल द्विस्थानिक बंध और उसमें भी अनन्तगुणी हानि, प्रशस्त प्रकृतियों के चतुःस्थानिक अनुभाव बंध में प्रतिसमय, अनन्तगुणी वृद्धि और स्थितिबंधापसरण होने से इस परिणाम शुद्धि को यथा प्रवृत्तिकरण कहते हैं।

इस करण वाला जीव राग-द्वेष की गूढ़ ग्रंथि तक पहुँच जाता है; लेकिन उसे भेदने में समर्थ नहीं हो पाता। इसे ग्रंथि-देशप्राप्ति कहते हैं। यथाप्रवृत्तिकरण अनन्त जीवों के भी हो सकता है और कर्मों की स्थिति कोडाकोडी सागरोपम करके वे जीव भी ग्रंथिदेश को प्राप्त कर सकते हैं; किन्तु उसका भेदन करने में वे सक्षम नहीं होते।

---

१. जिनोक्ताद् विपर्यस्ता सम्यग्दृष्टिर्निगद्यते।
सम्यक्त्वशालीनां सा स्यात्तच्चैव जायतेऽङ्गिनाम्॥ - लोकप्रकाश ३/५९६

भव्य जीव जिस परिणाम से राग-द्वेष की दुर्भेद्य ग्रंथि का भेदन करके उसे लाँघ जाता है; उस परिणाम को अपूर्वकरण कहते हैं। क्योंकि इस प्रकार का परिणाम उस जीव के बार बार नहीं होता, कदाचित् ही होता है। अर्थात् पूर्व समय में कभी भी प्राप्त नहीं हुए ऐसे अपूर्व परिणाम की प्राप्ति होने से इसका अपूर्वकरण नाम सार्थक है। अपूर्वकरण अभव्य जीव कभी नही कर सकता; भव्य जीव ही कर सकता है; किन्तु वह भी बार बार नहीं कर सकता।

अपूर्वकरण के द्वारा राग-द्वेष की ग्रंथि का भेदन होने पर जीव के परिणाम इतने शुद्ध हो जाते हैं कि वह सम्यक्त्व प्राप्त किये बिना नहीं रहता। इसीलिए इसका नाम अनिवृत्तिकरण है। इस करण के समय जीव का वीर्य-समुल्लास अर्थात् सामर्थ्य पूर्व की अपेक्षा बढ़ जाता है; जो कर्मक्षय के लिए वज्र के समान माना जा सकता है। क्योंकि ये तीनों करण विशिष्ट निर्जरा के साधनभूत विशुद्ध परिणाम हैं तथा प्रत्येक की अन्तर्मुहूर्त्त-प्रमाण स्थिति है।

अनिवृत्ति-करण की स्थिति का एक भाग शेष रहने पर अन्तरकण की क्रिया शुरु होती है। अर्थात् अनिवृत्तिकरण के अन्तःसमय में मिथ्यात्व मोहनीय के कर्मदलिकों को आगे-पीछे कर दिया जाता है। कुछ कर्मदलिकों को अनिवृत्तिकरण के अन्त तक उदय में आने वाले कर्मदलिकों के साथ और कुछ को अन्तर्मुहूर्त्त बीतने के बाद उदय में आने वाले कर्मदलिकों के साथ कर दिया जाता है। इससे अनिवृत्तिकरण के बाद का एक अन्तर्मुहूर्त्त काल ऐसा हो जाता है कि जिसमें मिथ्यात्व मोहनीय का एक भी कर्मदलिक नहीं रहता। अतएव जिसका अबाधाकाल पूरा हो चुका है; ऐसे मिथ्यात्व मोहनीय, कर्म के दो विभाग हो जाते हैं। एक विभाग वह है जो अनिवृत्तिकरण के बाद एक अन्तर्मुहूर्त्त बीतने पर उदय में आता है। इनमें से पहले विभाग को मिथ्यात्व की प्रथम स्थिति और दूसरे विभाग को मिथ्यात्व की द्वितीय स्थिति कहते हैं।

अन्तरकरण की क्रिया के शुरु होने पर अनिवृत्तिकरण के अन्त तक तो मिथ्यात्व का उदय रहता है; पर बाद में नहीं रहता। क्योंकि उस समय जिन दलिकों के उदय की संभावना है; वे सब दलिक अन्तरकरण की क्रिया के कारण आगे-पीछे उदय में आने योग्य कर दिये जाते हैं। अनिवृत्तिकरण का काल बीत जाने पर औपशमिक सम्यक्त्व होता है।[१]

---

१. अथानिवृत्तिकरणेनातिस्वच्छाशयात्मना। करोत्यन्तरकरणमन्तर्मुहूर्त्त संमितम्॥
कृते च तस्मिन् मिथ्यात्वमोहस्थितिर्द्विधा भवेत्। तत्राद्यान्तरकरणादद्यस्तन्यपरोहर्वगा॥
तत्रा छायां स्थितौ मिथ्यादृक् सतद्यत्लवेदनात्। अतीतायामथैतस्यां स्थितावन्तर्मुहूर्त्तः॥
प्राप्नोत्यन्तरकरणं तस्याद्यक्षण एव सः। सम्यक्त्व औपशमिकमपौद्गलिकमाप्नुयात्॥
यथा वनदवो दग्धेन्धनः प्राप्या तृणं स्थलम्। स्वयं विध्यायति तथा मिथ्यात्वोग्रदवानलः॥
अवाप्यान्तर करणं क्षिप्रं विध्यायति स्वयम्। तदौपशमिकं नाम सम्यक्त्वं लभतेऽसुभान्॥
-लोकप्रकाश ३/६२७ - ६३२

क्योंकि यह पहले बताया गया है कि अन्तरकरण क्रिया से जो कर्मदलिक दो भागों में बाँटे जाते हैं; उनमें से दूसरा पीछे से उदय में आनेवाला भाग अन्तर्मुहूर्त्त काल तक अनुदय रहता है अर्थात् उसमें मिथ्यात्व मोहनीय के दलिक शान्त रहते हैं। क्योंकि उस समय मिथ्यात्व मोहनीय कर्म का विपाक और प्रदेश दोनों प्रकार से उदय नहीं होता; अतः जीव का स्वाभाविक सम्यक्त्व गुण व्यक्त होता है। मिथ्यात्वरूप महारोग के हट जाने से जीव को ऐसा आनन्द आता है; जैसे किसी पुराने और भयकर रोग के रोगी को स्वस्थ हो जाने पर आता है। उस समय तत्त्वों पर दृढ़ श्रद्धा हो जाती है।

औपशमिक सम्यक्त्व की भी स्थिति पूर्ण होने पर तीन अवस्थाएँ बन जाती हैं; जिनका यथाप्रसंग संकेत किया जायेगा। लेकिन यहाँ यथाप्रवृत्ति आदि तीन करणों की प्रक्रिया का विचार किया गया है; जिससे यह ज्ञात हो सके कि तीसरे अनिवृत्तिकरण के अनन्तर आत्मा ने स्वरूप-बोध की स्थिति प्राप्त कर ली है। अनादिकाल से लेकर ग्रंथिस्थान तक यथाप्रवृत्ति करण होता है। ग्रंथि का अतिक्रमण करके भेदन करने वाली आत्मा को अपूर्वकरण और सम्यक्त्व के अभिमुख आत्मा को अनिवृत्तिकरण होता है।[१]

स्वरूपबोध के पश्चात्

मोह की प्रधान शक्ति दर्शनमोह को शिथिल करके स्वरूप दर्शन कर लेने के बाद भी जब तक उसकी दूसरी शक्ति चारित्रमोह को शिथिल न किया जाये; तब तक स्वरूप लाभ-स्वरूपस्थिति नहीं हो सकती। अतः चतुर्थ गुणस्थान में स्वरूप बोध की अवरोधक मोह की प्रधान शक्ति दर्शनमोह की शिथिलता से स्वरूपबोध कर लेने पर जब आत्मा को अपूर्व शान्ति मिलती है और उसे यह विश्वास हो जाता है कि स्वरूप लाभ से ही परिणाम सुन्दर और स्थिर होते हैं तथा अपरिमित सुखशान्ति की प्राप्ति होती है; तब अर्ध सफलता में ही सन्तुष्ट न होने के स्वभावानुसार वह विकासगामिनी आत्मा आत्मसुख की पूर्णता प्राप्त करने के लिए स्वरूप लाभ की अवरोधक मोहनीय कर्म की दूसरी शक्ति चारित्रमोह को शिथिल करने के लिए अग्रसर होती है, प्रयास करती है।

जब वह उस शक्ति को अंशतः शिथिल कर पाती है; तब उसकी और अधिक उत्क्रान्ति हो जाती है। जिससे अंशतः स्वरूप-स्थिरता होने से चौथी भूमिका की

---

१. जा गंठी ता पढमं गंठि समइच्छाओ अपुव्वं तु। अनियट्टि - करणं पुण सम्मत्त पुरक्खडे जीवे॥
-विशेषावश्यक भाष्य १२०३

अपेक्षा उसे अधिक शान्ति-लाभ होता है। यह देशविरति नामक पाँचवाँ गुणस्थान है। इससे आगे के सभी गुणस्थान सम्यग्दृष्टि वाले ही होते हैं; क्योंकि उनमें उनरोत्तर विकास तथा दृष्टि की शुद्धि अधिकाधिक होती जाती है।

पाँचवें गुणस्थान में विकासगामिनी आत्मा को यह विचार होने लगता है कि जब अल्पविरति इतनी अधिक शान्तिदायक है; तो सर्वविरति से तो और अधिक शान्ति-लाभ होगा। इस विचार से प्रेरित होकर एवं प्राप्त आध्यात्मिक ज्ञान के अनुभव को बलवान बना कर वह चारित्रमोह को और अधिक शिथिल करके पहले की अपेक्षा अधिक स्वरूपस्थिरता व स्वरूपलाभ प्राप्त करने की चेष्टा करती है। इस चेष्टा में सफल होने पर उसे सर्वविरति चारित्र प्राप्त होता है। इसमें पौद्गलिक भावों पर मूर्च्छा बिल्कुल नहीं रहती और सारा समय स्वरूप की अभिव्यक्ति करने में लगता है। यह सर्वविरति नामक छठा गुणस्थान है।

छठे गुणस्थान में स्वरूप की अभिव्यक्ति अधिक होने के कारण विकास-गामिनी आत्मा को यद्यपि आध्यात्मिक शान्ति पहले की अपेक्षा अधिक मिलती है; फिर भी बीच बीच में अनेक प्रमाद उसकी शान्ति में बाधा पहुँचाते हैं। उन्हें वह सहन नहीं कर सकती। अतएव सर्वविरति-जनित शान्ति के साथ प्रमादरहित विशिष्ट शान्ति का अनुभव करने की प्रबल लालसा से प्रेरित होकर वह प्रमाद का त्याग करती है और स्वरूप की अभिव्यक्ति के अनुकूल मनन चिन्तन के सिवाय अन्य सभी व्यापारों का त्याग कर देती है। यही अप्रमत्तसंयत नामक सातवाँ गुणस्थान है।

सातवें गुणस्थान को प्राप्त होने पर भी एक ओर अप्रमादजन्य उत्कट सुख का अनुभव आत्मा को उसी स्थिति मे बने रहने के लिए उत्तेजित करता है और दूसरी ओर प्रमादजन्य पूर्व वासनाएँ उसे अपनी ओर आकर्षित करती हैं। ऐसी खींचातानी की स्थिति बनती रहती है। परिणामतः विकासगामिनी आत्मा कभी प्रमाद की तन्द्रा और कभी अप्रमाद की जागृति अर्थात् छठे और सातवें गुणस्थान में जाती आती रहती हैं। जिससे गतिमापक यंत्र के काँटे की तरह जो गति के वेगानुसार कभी इधर और कभी उधर चलायमान होता रहता है; वैसे ही छठे और सातवें गुणस्थान के समय विकासगामिनी आत्मा अनवस्थित बन जाती है।

प्रमाद के साथ होने वाले इस युद्ध में विकासगामिनी आत्मा अपने चारित्रबल को विशेष प्रकाशित करती है; तो वह प्रमाद प्रलोभनों को पार कर विशेष अप्रमत्त दशा को प्राप्त कर लेती है और इस अवस्था को प्राप्त कर वह ऐसी शक्तिवृद्धि की तैयारी करती है; जिससे शेष रहे मोहबल को नष्ट किया जा सके। मोह के साथ होने वाले भावी युद्ध के लिए की जाने वाली तैयारी की इस भूमिका का नाम अपूर्वकरण-गुणस्थान है।

पूर्व में कभी न हुई ऐसी अभूतपूर्व आत्मशुद्धि इस गुणस्थान में हो जाती है। इस कारण कोई विकासगामिनी आत्मा तो मोह के संस्कारों के प्रभाव को क्रमशः उपशमित करती हुई आगे बढ़ती है और अन्त में मोह को बिल्कुल ही उपशान्त कर देती है।

विशिष्ट आत्मशुद्धि शक्ति वाली कोई दूसरी आत्मा ऐसी भी होती है; जो मोह के संस्कारों को जड़मूल से उखाड़ती हुई आगे बढ़ती है और अन्त में उन सब संस्कारों को सर्वथा निर्मूल कर देती है।

इस प्रकार आठवें गुणस्थान से परमात्म-भाव की सर्वोपरि भूमिका के निकट पहुँचने वाली आत्माएँ दो श्रेणियों में विभक्त हो जाती हैं। एक श्रेणीवाली आत्माएँ तो ऐसी होती हैं; जो मोह को एक बार सर्वथा दबा तो देती हैं; किन्तु उसे निर्मूल नहीं कर पातीं। अतएव जिस प्रकार जल के तल में बैठा हुआ मल थोड़ा सा कारण मिलने पर ऊपर उठ कर उसे गंदला कर देता है; उसी प्रकार पहले दबाया हुआ मोह भी इस श्रेणी वाली आत्माओं को अपने वेग से नीचे पटक देता है। मोह जिस भूमिका से आत्मा को हरा कर नीचे पटकता है; वही ग्यारहवाँ उपशान्तमोह-गुणस्थान है।

मोह को क्रमशः दबाते दबाते सर्वथा दबाने तक में उत्तरोत्तर अधिक विशुद्धि वाली दो भूमिकाएँ अवश्य प्राप्त करनी पड़ती हैं; जो अनिवृत्तिकरण नामक नौवाँ और सूक्ष्म-संपराय नामक दसवाँ गुणस्थान है।

दूसरी श्रेणीवाली आत्माएँ मोह को क्रमशः निर्मूल करते-करते उसे सर्वथा निर्मूल ही कर देती हैं। यह निर्मूल करने की भूमिका बारहवाँ क्षीणमोह-गुणस्थान है। इस गुणस्थान को प्राप्त करने में भी बीच में नौवाँ और दसवाँ गुणस्थान प्राप्त करना पड़ता है।

सारांश यह है कि चाहे पहली श्रेणी हो या दूसरी श्रेणी, दोनों में स्थित आत्मा को नौवाँ और दसवाँ गुणस्थान अवश्य प्राप्त करना पड़ता है। लेकिन दोनों श्रेणीवालों में अन्तर इतना है कि प्रथम श्रेणीवालों की अपेक्षा दूसरी श्रेणीवालों में आत्मशुद्धि व आत्मबल विशिष्ट प्रकार के पाये जाते हैं और आध्यात्मिक विशुद्धि न्यूनाधिक होती है। जिसके कारण प्रथम श्रेणी वाली आत्मा तो दसवें गुणस्थान को पा कर अन्त में ग्यारहवें गुणस्थान में मोह से पराजित हो कर नीचे गिरती है और दूसरी श्रेणीवाली दसवें को प्राप्त कर इतना अधिक आत्मबल प्रकट करती है कि ग्यारहवें गुणस्थान को स्पर्श किये बिना मोह को सर्वथा क्षीण करके सीधा बारहवें गुणस्थान क्षीणमोह को प्राप्त कर ही लेती हैं। वे अपनी पूर्णता प्राप्त करके ही विश्राम लेती हैं। उनका विकास बीच में अवरुद्ध नहीं होता।

प्रथम भूमिका को मोह के उपशम के कारण उपशमश्रेणी और दूसरी भूमिका को मोह के क्षय के कारण क्षपकश्रेणी कहते हैं। इनका वर्णन अन्यत्र किया जा रहा है।

परमात्म-भाव के दर्शन में मुख्य बाधक मोह ही है और उसका सर्वथा नाश हुआ कि मोह के कारण बलवान माने जाने वाले अन्य घातीकर्म (ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय) प्रधान सेनापति के मारे जाने के बाद अनुगामी सैनिकों की तरह एक साथ तितर-बितर हो जाते हैं; नष्ट हो जाते हैं। इस कारण विकास-गामिनी आत्मा तुरन्त ही परमात्म-भाव की आध्यात्मिक दशा-सच्चिदानन्द स्वरूप को पूर्णतया प्रकट करके निरतिशय ज्ञान, चारित्र आदि का लाभ प्राप्त करती है। उस समय आत्मा की सभी मुख्य शक्तियाँ पूर्ण विकसित हो जाती हैं। इस भूमिका को तेरहवाँ सयोगी केवली गुणस्थान कहते हैं।

इस गुणस्थान में भी जब आत्मा दग्धरज्जु के समान शेष आवरणों-अप्रधान-भूत अघाती कर्मों को उखाड़ फेंकने के लिए सूक्ष्म क्रिया प्रतिपाती शुक्ल ध्यान रूप पवन का आश्रय लेकर मानसिक, वाचिक और कायिक व्यापारों को सर्वथा रोक देती है; तब चौदहवाँ अयोगी केवली गुणस्थान प्रकट होता है। यह आध्यात्मिक विकास की पराकाष्ठा है। इसके अन्त में आत्मा शरीरत्याग पूर्वक व्यवहार और परमार्थ दृष्टि से उस लोकोत्तर स्थान को प्राप्त करती है; जो निर्गुण ब्रह्मस्थिति का स्थान मोक्ष कहलाता है।

यही सर्वांगीण पूर्णता है, कृतकृत्यता है, परम पुरुषार्थ की अन्तिम सिद्धि है और अपुनर्भव का स्थान है; क्योंकि संसार के एक मात्र और मुख्य कारण मोह के सब संस्कारों का सर्वथा नाश हो जाने के कारण अब उपाधि संभव ही नहीं है।

चौदह गुणस्थानों में दूसरे और तीसरे गुणस्थान के अतिरिक्त बारह गुण-स्थानों की तो उक्त प्रकार की श्रृंखलाबद्ध रूपरेखा है और शेष रहे दूसरे तीसरे गुणस्थानों में से दूसरा अधःपतनोन्मुख आत्मा की स्थिति का दिग्दर्शक है और तीसरा आत्मा की उस मिश्रित अवस्था का नाम है; जिसमें न तो केवल सम्यग्दृष्टि रहती है और न केवल मिथ्यादृष्टि। उस समय वह डोलायमान स्थिति वाली बन जाती है। इनका विशेषता के साथ वर्णन गुणस्थानों की स्वरूप व्याख्या के प्रसंग में किया जायेगा।

गुणस्थानों के रूप में आत्मा की जिन चौदह अवस्थाओं का विचार किया गया है, उनका तथा उनके अन्तर्गत अन्य अवान्तर संख्यातीत अवस्थाओं का संक्षिप्त वर्गीकरण करके शास्त्रों में आत्मा की सिर्फ तीन अवस्थाएँ बतलायी गयी हैं- बहिरात्म अवस्था, अन्तरात्म अवस्था और परमात्म अवस्था।

मोहरूपी निद्रा से अस्त चेतना के कारण बाह्य पदार्थों मे आत्मत्व-अपनेपन की कल्पना करनेवाली आत्मा बहिरात्मा है।[१] बहिरात्म अवस्था मे आत्मा का वास्तविक विशुद्ध स्वरूप अत्यन्त आच्छन्न रहता है। इस कारण आत्मा मिथ्यादृष्टि वाली हो कर पर पदार्थों के विलास में मग्न रहा करती है और उन्हें ही सर्वस्व मान कर उनकी प्राप्ति के लिए समग्र भाव से सक्रिय रहती है, अपनी संपूर्ण शक्ति लगाती रहती है।

बाह्य भावों-पदार्थों का परित्याग करके अपनी आत्मा में ही आत्मा का निश्चय करना अन्तरात्म अवस्था है।[२]

अन्तरात्म दशा में यद्यपि आत्मा का वास्तविक स्वरूप पूर्णतया प्रकट तो नहीं होता; किन्तु उस पर का आवरण गाढ़ न हो कर शिथिल, शिथिलतर और शिथिलतम बन जाता है। इस कारण उसकी दृष्टि बहिर्मुखी न हो कर पौद्गलिक विलासों से हटकर स्वरूपोन्मुखी बन जाती है। वह स्वरूप की ओर अग्रसर हो जाती है। यह दूसरी अवस्था तीसरी अवस्था की प्राप्ति की आधारशिला है।

निःशेष दोषरहित और केवलज्ञान तथा केवलदर्शन के वैभव से संयुक्त आत्मा को परमात्मा कहते हैं।[३]

परमात्म अवस्था में आत्मा का वास्तविक स्वरूप प्रकट हो जाता है अर्थात् कर्म का प्रगाढ़ आवरण विलीन-क्षय हो जाता है।

चौदह गुणस्थानों में से प्रथम गुणस्थान बहिरात्म अवस्था का, चौथे से लेकर बारहवाँ गुणस्थान अन्तरात्म अवस्था का और तेरहवाँ-चौदहवाँ गुणस्थान परमात्म अवस्था का दिग्दर्शन कराता है।[४]

---

१. आत्मबुद्धिः शरीरेऽपि, यस्य स्यादात्मविभ्रमात्। बहिरात्मा स विज्ञेयो, मोहनिद्रास्तचेतनः ॥१
-जैन धर्मामृत १/४

२. बहिर्भावानतिक्रम्य यस्यात्मन्यात्मनिश्चयः।
सोऽन्तरात्मा मतस्तज्ज्ञैर्विभ्रमध्वान्तभास्करैः ॥१ *-जैन धर्मामृत १/१६*

३. णिस्सेस दोसरहिओ केवलणाणादि परम विभवजुदो। सो परमप्पा उच्चइ....नियमसार

४. अन्ये तु मिथ्यादर्शनादि भाव परिणतो बाह्यात्मा सम्यग्दर्शनादि परिणतस्तु अन्तरात्मा केवलज्ञानादि परिणतस्तु परमात्मा।
तत्राद्य-गुणस्थानत्रये बाह्यात्मा, ततः परं क्षीणमोह-गुणस्थान-भावादन्तरात्मा, ततः परं तु परमात्मेति। तथा व्यक्त बाह्यात्मा शक्त्या परमात्मान्तरात्मा च। व्यक्तान्तरात्मा तु शक्त्या परमात्मा अनुभूतपूर्व नयन च बाह्यात्मा, व्यक्त्या परमात्मा अनुभूतपूर्व नयनैव बाह्यान्तरात्मा च *-अध्यात्म मत परीक्षा गाथा १२५ की टीका*

गुणस्थानों में ध्यान

आत्मा का स्वभाव उपयोग अर्थात् ज्ञान-दर्शनमय है। अतः वह किसी भी स्थान में हो; किन्तु ध्यान से मुक्त नहीं रहती। सामान्यतः ध्यान के दो भेद हैं-शुभ और अशुभ। विशेष रूप में आर्त्त, रौद्र, धर्म और शुक्ल ये चार भेद ध्यान के किये गये हैं।[१] इन चार ध्यानों में से आदि के दो-आर्त्त और रौद्र अशुभ तथा अन्त के दो-धर्म और शुक्ल ध्यान शुभ हैं। आदि के दो ध्यान अशुभ होने से संसार-भ्रमण के कारण हैं और अन्त के दो ध्यान शुभ होने से मोक्ष के अर्थात् संसार से मुक्ति के कारण हैं।[२] पौद्गलिक दृष्टि की मुख्यता से बाह्य लक्ष्य पर केन्द्रित हो कर आत्म विस्मृति के समय जो ध्यान होता है और जो संसार का कारण होता है; उसे अशुभ कहते हैं तथा पौद्गलिक दृष्टि की गौणता और आत्मानुसंधान की दशा में अग्रसर होने वाले मोक्ष हेतु ध्यान को शुभ कहते हैं।

पीड़ा या दुःख के कारण जो ध्यान उत्पन्न होता है, उसे आर्त्तध्यान कहते हैं। जिसका चित्त क्रूर व कठोर होता है, उसे रुद्र कहते हैं और ऐसे जीव द्वारा होने वाला जो ध्यान वह रौद्रध्यान है। जिससे धर्म का परिज्ञान होता है; उसे धर्मध्यान कहते हैं। शुद्धात्मा का रागादि विकल्प से रहित स्वसंवेदन ज्ञान, समाधि ये शुक्ल ध्यान हैं। आर्त्त आदि इन चारों ध्यानों के चार चार भेद हैं।

सामान्य से ध्यान के उक्त आर्त्त आदि चारों भेदों में से प्रथम तीन गुणस्थानों में आर्त्त और रौद्र ये दो ध्यान हैं। इन गुणस्थानों में ये तरतम भाव से पाये जाते हैं। चौथे और पाँचवें गुणस्थान में उक्त दो ध्यानों के अतिरिक्त सम्यक्त्व के प्रभाव से धर्मध्यान होता है। छठे गुणस्थान में आर्त्त और धर्म ये दो ध्यान होते हैं। सातवें गुणस्थान में सिर्फ धर्मध्यान होता है। आठवें से लेकर बारहवें गुणस्थान तक पाँच गुणस्थानों में धर्म और शुक्ल ये दो ध्यान होते हैं तथा तेरहवें और चौदहवें गुणस्थान में सिर्फ शुक्लध्यान होता है।[३]

गुणस्थानों में कर्मबंध-हेतुओं का क्रम –

कर्म के बंध हेतुओं के विचार प्रसंग में मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग ये पाँच कर्मबंध के सामान्य हेतु बतलाये गये हैं। यद्यपि ज्ञानावरण आदि कर्मों

---

१. आर्तरौद्रधर्मशुक्लानि। - तत्त्वार्थ सूत्र ९/२९

२. परे मोक्षहेतुः। - तत्त्वार्थ सूत्र ९/

३. विशेष जानकारी के लिए देखिये-तत्त्वार्थ सूत्र अध्याय ९ सूत्र २९ से ४६

के भी अपने अपने विशेष बंधहेतु है; लेकिन मिथ्यात्व आदि सामान्य हेतुओं का सद्भाव तब भी रहता ही है और उनके सद्भाव में वे अपने अपने कर्म का विशेष रूप में और दूसरों का सामान्य रूप में बंध कराते हैं। अतः ये मिथ्यात्व आदि समस्त कर्मों के समान बंध हेतु होने से कर्मबंध के सामान्य हेतु माने गये हैं। किस गुणस्थान तब, कितने और कौन कौन से बंधहेतु रहते हैं इसका विवरण आगे दिया जा रहा है।

मिथ्यात्व से ले कर योगपर्यन्त इन पाँचों बंध हेतुओं में से जिस गुणस्थान में पूर्व पूर्व के बंध हेतु होंगे; वहाँ उसके बाद के सभी हेतु होंगे। जैसे मिथ्यात्व के होने पर मिथ्यात्व सहित योगपर्यन्त पाँचों हेतु होंगे तथा अविरति के होने पर अविरति आदि योग पर्यन्त चार हेतु होंगे। इसी प्रकार क्रमशः प्रमाद, कषाय और योग के बारे में जानना चाहिये। परन्तु जब आगे का बंध हेतु हो; तब पूर्व का बंध हेतु हो भी सकता है और नहीं भी हो सकता। क्योंकि अविरति के साथ मिथ्यात्व पहले गुणस्थान में होता है; किन्तु दूसरे, तीसरे और चौथे गुणस्थान में अविरति के होने पर भी मिथ्यात्व नहीं होता। इसी प्रकार अन्य बंध हेतुओं के लिए भी समझना चाहिये।

इस कथन का सारांश यह हुआ कि पहले गुणस्थान में मिथ्यात्व से ले कर योगपर्यन्त पाँच, दूसरे,तीसरे और चौथे गुणस्थान में अविरति से लेकर योगपर्यन्त चार, पांचवे एवं षष्ठ में प्रमादादि तीन तथा सातवें, आठवें, नौवें और दसवें इन चार गुणस्थानों में कषाय और योग ये दो बंध हेतु है। ग्यारहवें, बारहवें और तेरहवें गुणस्थान में सिर्फ योग बंध हेतु है। चौदहवें गुणस्थान में योग का अभाव हो जाने से कोई भी-एक भी बंध हेतु नहीं है।

गुणस्थान आत्मपरिणाम और लेश्या -

कर्म के बंधन और उससे मुक्ति का कारण आत्म परिणाम है।[१] आत्मा की शुद्ध और अशुद्ध अवस्थाओं के दिग्दर्शक गुणस्थान हैं और उनमें रहने वाले आत्मा के परिणामों का दिग्दर्शन लेश्या कराती है। गुणस्थानों और लेश्याओं का संबंध गतिमापक यंत्र के दस, बीस आदि अंकों और उस पर घूमती हुई सुई जैसा है। याने गुणस्थान अंक की तरह स्थिर हैं और लेश्या परिणाम सुई के समान प्रतिक्षण बदलते रहते हैं। गुणस्थानों और लेश्या परिणाम में इतना निकटतम संबंध है कि परस्पर में ये एक दूसरे से प्रभावित होते रहते हैं।

जिसके द्वारा जीव पुण्य-पाप कर्मों से अपने को लिप्त करता है, अर्थात आत्मा के जिन शुभ अशुभ परिणामों से आत्मा के साथ शुभाशुभ कर्मों का संबंध होता है;उन परिणामों को लेश्या कहते हैं।[२] इसके दो भेद हैं- द्रव्य लेश्या और भाव

---

१. बंधप्पो मोक्खो अज्झत्थेव।-आचारांग १/५/२

२. लिम्पइ अप्पा कीरइ, एयाए जियम पुण्ण-पावं च।
जीवो त्ति होइ लेसा, गुण जाणयक्खाया॥ - *पंचसंग्रह (प्राकृत) १/१४२*

लेश्या । द्रव्य लेश्या पुद्गल विशेषात्मक है; अर्थात् मन वचन काय योग के अन्तर्गत शुभाशुभ परिणाम के कारण मूल कृष्णादि वर्णवाले पुद्गलद्रव्य लेश्या हैं और भावलेश्या आत्मा के परिणाम विशेष हैं । ये परिणाम संक्लेश और योग से अनुगत हैं । संक्लेश के तीव्र, तीव्रतर, तीव्रतम और मंद, मंदतर, मंदतम आदि अनेक भेद होने से वस्तुतः भावलेश्या के असंख्य प्रकार हैं; तथापि संक्षेप में उसके निम्नलिखित छह भेद हैं -[१]

१. कृष्ण लेश्या — काजल आदि के समान अत्यन्त कलुश परिणाम ।

२. नील लेश्या — नीलम आदि के रंग के समान परिणाम ।

३. कापोत लेश्या — कबूतर की गर्दन के रंग के समान परिणाम ।

४. तेजो लेश्या — सिन्दूर आदि के रंग के समान परिणाम ।

५. पद्म लेश्या — हल्दी आदि के रंग जैसे परिणाम ।

६. शुक्ल लेश्या — शंख आदि के समान श्वेत परिणाम ।

उक्त छह लेश्याओं में कृष्ण, नील और कापोत ये तीन अशुभ लेश्याएँ हैं । इन लेश्याओं के जैसे आत्मा के परिणाम होने पर जीव हिंसा आदि पापों में प्रवृत्ति करता है । छल, कपट, ईर्ष्या, असहिष्णुता और क्रूरता की प्रवृत्तियों में आनन्द मानता है । इन लेश्याओं में काम- भोगों की लालसा तीव्र होती है ।

तेज, पद्म और शुक्ल ये तीन लेश्याएँ शुभ हैं । इन लेश्या परिणामोंवाली आत्मा का आचार- विचार और व्यवहार नम्र,ऋजु और सरल होता है । उस आत्मा में क्रोधादि कषाय अत्यन्त अल्प व मंद होते हैं । ऐसी आत्मा धर्म में दृढ़ पापभीरु तथा जितेन्द्रिय होती है ।

गुणस्थानों में लेश्या और लेश्या में गुणस्थान मानने के संबंध में शास्त्रों में बताया है कि प्रथम तौर गुणस्थानों में छहों लेश्याएँ होती हैं । पाँचवें, छठें और सातवें गुणस्थान में तेजो लेश्या आदि तीन शुभ लेश्याएँ होती हैं और उसके बाद तेरहवें गुणस्थान तक शुक्ल लेश्या होती है । चौदहवें गुणस्थान में योग न होने से कोई भी-एक भी लेश्या नहीं होती ।[२]

गुणस्थानों का स्वरूपः-

गुणस्थानों की व्यवस्था के द्वारा यही दिग्दर्शन कराया गया है कि आत्मा को अपने विकास के मार्ग में किन किन भूमिकाओं पर आना पड़ता है । पूर्व में मिथ्यात्व

---

१. गोम्मटसार जीवकांड ४९५

२. आयदो ति छ लेस्साओ, सुहतिय लेस्सा देसविरदितमे ।
तत्तो सुक्का लेस्सा, अजोगिअण अलेस्सं तु ।। - *गोम्मटसार जीवकांड १५*

आदि अयोगी केवली पर्यन्त जिन चौदह गुणस्थानों का नामोल्लेख किया गया; उनके लक्षण क्रमशः इस प्रकार हैं-

१. मिथ्यात्व गुणस्थान - दर्शनमोहनीय कर्म के भेद मिथ्यात्व की प्रबलतम स्थिति यहाँ होने से इस गुणस्थान का नामकरण किया गया है। मिथ्यात्व मोहनीय के उदय से जिस जीव की दृष्टि (श्रद्धा, प्रतिपत्ति, विश्वास) मिथ्या (विपरीत,उल्टी) हो जाती है; उसे मिथ्यादृष्टि कहते हैं।[१] जैसे धतूरे के बीज खानेवाला मनुष्य सफेद वस्तु को भी पीली देखता है; वैसे ही मिथ्यादृष्टि जीव की दृष्टि भी विपरीत हो जाती है। इस कारण वह सर्वज्ञ-भाषित तत्त्वों में विपरीत दृष्टि होने के कारण कुदेव को देव, कुगुरु को गुरु और कुधर्म को धर्म समझता है। आत्मा तथा अनात्मा, जड़ व चेतन का विवेक ज्ञान ही उसे नहीं होता। अर्थात् मिथ्यादृष्टि आत्मा जीवादि तत्त्वों में तथा देव गुरु धर्म में विपरीत श्रद्धा रखती है। यद्यपि मिथ्यात्वी की दृष्टि विपरीत है; फिर भी वह किसी अंश में यथार्थ भी होती है। क्योंकि मिथ्यात्वी जीव भी मनुष्य, पशु-पक्षी आदि रूप में जीव को जानता और मानता है। वह अहिंसा सत्य आदि गुणों को उत्तम मानता है। यह उसका गुण है और इसी गुण की अपेक्षा से मिथ्यादृष्टि जीव के स्वरूप विशेष को मिथ्यात्व गुणस्थान कहते हैं। इसका अपर नाम मिथ्यादृष्टि गुणस्थान है।

मिथ्यात्व को भी गुणस्थान मानने का कारण यह है कि जिस प्रकार सघन बादलों का आवरण होने पर भी सूर्य की प्रभा सर्वथा आच्छादित नहीं हो जाती, किन्तु कुछ न कुछ खुली रहती है, जिससे दिन रात का व्यवहार किया जाता है। उसी प्रकार मिथ्यात्व मोहनीय कर्म का उदय होने पर भी जीव का दृष्टिगुण सर्वथा ढँक नहीं जाता, किन्तु आंशिक रूप में एक प्रकार का अव्यक्त स्पर्श मात्र उपयोग होता है। यदि यह न माना जाये, तो निगोदिया जीव अजीव कहलायेगा।[२] इसीलिए मिथ्यात्व को गुणस्थान माना जाता है। इस गुणस्थानवर्ती जीव की आध्यात्मिक स्थिति पूर्ण रूप से निम्नतम स्तर की होती है तथा राग द्वेष आदि के वशीभूत होने से वह आध्यात्मिक सुखों से सर्वथा वंचित रहता है।

---

१. (क) अच्छेदयेणं मिच्छत्तमसद्दहणं तु तच्च अत्थाणं। - *गोम्मटसार जीवकांड १५*

(ख) तत्त्वानि जिन दृष्टानि, यस्तद् यानि न रोचते।
मिथ्यात्वस्योदये जीवो, मिथ्यादृष्टिरसौ अतः॥ - *संस्कृत पंचसंग्रह १/ १९*

२. सव्व जीवाणं वि य, अक्खरस्स अणंतमो भागो निच्च उग्घाडिओ चिट्ठइ।
जइ पुण सो वि आवरिज्जा, तेण जीवो अजीवत्तणं पाउणिज्जा॥ - नंदी-७५

यद्यपि मिथ्यात्वी की दृष्टि किसी अंश में यथार्थ होती है; लेकिन इतने मात्र से उसे सम्यग्दृष्टि इसलिए नहीं कहते हैं; कि शास्त्र में कहा गया है कि द्वादशांग सूत्रोक्त एक अक्षर का भी यदि कोई विश्वास नहीं करता, तो वह मिथ्यादृष्टि है, जैसे जमाली।[१] जब कि सम्यक्त्वी जीव की सर्वज्ञ के कथन पर अटूट श्रद्धा होती है- उसका उस पर अटूट विश्वास होता है।

मिथ्यात्व मोहनीय कर्म के उदय से उत्पन्न होने वाली मिथ्या पर्यायों का अनुभव करनेवाला जीव विपरीत श्रद्धावाला होता है। जिस प्रकार पित्तज्वर से युक्त जीव को मीठा रस भी अच्छा नहीं लगता, कड़वा लगता है; उसी प्रकार मिथ्यात्वी जीव को यथार्थ धर्म का श्रवण, मनन, चिन्तन अच्छा नहीं लगता। वह दोषदर्शन की ओर उन्मुख रहता है।[२] इसीलिए मिथ्यादृष्टि को सम्यक्त्वी नहीं कहते।

मिथ्यात्वी की अपनी यह वृत्ति होती है कि वह समीचीन गुरुओं के पूर्वापर विरोधादि दोषों से रहित एवं हितकारी वचन का तो श्रद्धान नहीं करता; किन्तु आचार्यभासों द्वारा उपदिष्ट या अनुपदिष्ट असद्भाव का - पदार्थ के विपरीत स्वरूप का इच्छानुसार श्रद्धान करता है।[३]

मिथ्यात्व प्रकृति के उदय से तत्त्वार्थ के विपरीत श्रध्दानरूप मिथ्यात्व के पाँच भेद हैं- एकान्त,विपरीत,विनय, संशयित और अज्ञान।[४] अनेक धर्मात्मक पदार्थ को किसी एक धर्मात्मक मानना एकान्त मिथ्यात्व है। जैसे-वस्तु सर्वथा क्षणिक है अथवा नित्य ही है। धर्मादिक क स्वरूप को विपर्ययरूप मानना विपरीत मिथ्यात्व है। जैसे- हिंसा से स्वर्गादि की प्राप्ति होती है। सम्यग्दृष्टि देव, गुरु और उनके कहे हुए शास्त्रों में समान बुद्धि रखना, उन्हें समान रूप में सम्मान देना, दोनों में श्रद्धा रखना विनय मिथ्यात्व है। समीचीन और असमीचीन दोनों प्रकार के पदार्थों में से किसी भी एक का निश्चय न होना संशय मिथ्यात्व है। इसी प्रकार जीवादि पदार्थों का स्वरूप यही

---

१. पयमवि असद्दहंतो, सुत्तत्थं मिच्छादिट्ठुओ॥
पयमक्खरं वि इक्कं, जो न रोएइ सुत्तनिद्दिट्ठं। सेसं रोयंतो वि हु मिच्छादिट्ठी जमालि व्व॥
- *बृहत्संग्रहणी* १६६ - १६७

२. मिच्छत्तं वेदंतो जीवो, विवरीय दंसणो होदि। जय धम्मं रोचेदि हु, य दुइं खु रसं जहा जरिदो॥
- *गोम्मटसार जीवकांड* - १७

३. मिच्छाइट्ठी जीवो, उवइट्ठं पव्वयणं ण सद्दहदि। सद्दहदि असब्भावं, उवइट्ठं वा अणुवइट्ठं॥
- *गोम्मटसार जीवकांड* १८

४. गोम्मटसार जीवकांड १५

है, इस प्रकार का है; इस तरह विशेष रूप से न समझने को अज्ञान मिथ्यात्व कहते हैं।

स्थानांग सूत्र में मिथ्यात्व के निम्न प्रकार से दस भेद भी बतलाये है।[१]

१. अधर्म में धर्मबुद्धि, २. धर्म में अधर्मबुद्धि, ३. उन्मार्ग में मार्गबुद्धि ४. मार्ग में उन्मार्ग बुद्धि ५. अजीव में जीव बुद्धि ६. जीव में अजीव बुद्धि ७. असाधु में साधु की बुद्धि ८. साधु में असाधु की बुद्धि, ९. अमूर्त में मूर्त की बुद्धि और १०. मूर्त में अमूर्त की बुद्धि।

आगमों में वर्णित इन दस भेदों के अतिरिक्त मिथ्यात्व के आभिग्रहिकादि पाँच तथा लौकिकादि दस ऐसे पन्द्रह भेद और भी मिलते हैं। कुल मिला कर इनका योग पच्चीस होता है: किन्तु ये स्वतंत्र भेद न हो कर आगम में वर्णित दस प्रकार के मिथ्यात्वों का वर्णन करने वाले हैं। इन पच्चीस भेदों को और भी संक्षेप में कहा जाये ; तो नैसर्गिक (स्वभावजन्य) मिथ्यात्व और अधिगमज (परोपदेशजन्य) मिथ्यात्व ये दो भेद होंगे।

इस प्रकार हम मिथ्यात्व के संक्षेप विस्तार की अपेक्षा से अल्पाधिक कितने ही भेद समझने के लिए कर लें: पर उन सब का मूल आधार मिथ्यात्व-मोहनीय है। जब तक मिथ्यात्व-मोहनीय का उदय है: तब तक जीव सम्यक् श्रद्धा प्रतीत प्रतिपत्ति की ओर से उन्मुख नहीं हो सकता ।

काल की अपेक्षा से मिथ्यात्व के तीन भेद हैं-१. अनादि-अनन्त,२.अनादि-सान्त और ३.सादि-सान्त।[२] प्रथम भेद का अधिकारी अभव्य जीव अथवा जाति भव्य (जो जीव कभी मुक्त नहीं होता) जीव है। दूसरा भेद उसकी अपेक्षा से है;जो जीव अनादिकालीन मिथ्यादर्शन ग्रंथि का भेदन करके सम्यग्दृष्टि बन जाता है। यह जीव भव्य कहलाता है। तीसरा भेद उस जीव की अपेक्षा से है; जो एक बार सम्यक्त्व प्राप्त करने के बाद पुनः मिथ्यात्वी हो जाता है। इस जीव की अपेक्षा से प्रथम गुणस्थान की आदि तब होती है, जब वह सम्यक्त्व से पतित हो कर प्रथम गुणस्थान में आता है। अर्थात् उच्च गुणस्थान से पतित हो कर गिरते गिरते मिथ्यात्व गुणस्थान में आने वाले जीव की अपेक्षा से सादिसान्त विकल्प है और जिसको एक बार सम्यक्त्व की प्राप्ति हो गयी है; वह निश्चित ही मोक्षगामी होता है। क्योंकि जिस जीव के लिए मिथ्यात्व की आदि हुई; उस मिथ्यात्व का अंत अवश्यंभावी है।

---

१. स्थानांग १०/७३४

२. *अभव्याश्रिता मिथ्यात्वे, अनाद्यनन्ता स्थितिर्भवेत्।*
सा भव्याश्रिता मिथ्यात्वे, अनादिसान्ता पुनर्मता॥ - *गुणस्थान क्रमारोह*

तीसरे भेद की अपेक्षा से मिथ्यात्व गुणस्थान की जघन्य और उत्कृष्ट स्थिति क्रमशः अन्तर्मुहूर्त और देशोनअर्धपुद्गल परावर्त है।[1]

२. **सासादन सम्यग्दृष्टि गुणस्थान**- यह दूसरे गुणस्थान का नाम है। प्राकृत भाषा में 'सासायण' शब्द शुद्ध है। इसके संस्कृत में दो रूप मिलते हैं। सास्वादन और सासादन। जो जीव औपशमिक सम्यक्त्व से तो च्युत हो गया है; परन्तु जिसने अभी मिथ्यात्व को प्राप्त नहीं किया है; ऐसे मिथ्यात्व के अभिमुख जीव के सम्यक्त्व का जो आंशिक आस्वादन शेष रहता है; इस कारण प्रस्तुत गुणस्थान को सास्वादन सम्यग्दृष्टि कहते हैं।[2] औपशमिक सम्यक्त्व से च्युत होने वाला जीव सम्यक्त्व की आसादना करता है; अतः इसे सासादन कहा जाता है।[3] इस गुणस्थानवर्ती जीव को सम्यक्त्व का स्वाद चखने को मिलता है; किन्तु पूरा रस नहीं मिलता। यह प्रतिपाती सम्यक्त्व की अवस्था है। सम्यक्त्व से पतन कराने में कारण है-अनन्तानुबंधी कषाय का उदय। अर्थात् अनन्तानुबंधी कषाय चतुष्क में से किसी भी एक कषाय का उदय होने पर जीव सम्यक्त्व से पतित होगा और इस पतनोन्मुख स्थिति का दर्शक सासादन गुणस्थान है।[4]

इस स्थिति का काल जघन्य से एक समय और उत्कृष्ट से छह आवलिका है।[5] उक्त कथन का सारांश यह है कि उपशम सम्यक्त्व के काल में से जब जघन्य से एक समय और उत्कृष्ट से छह आवलिका प्रमाण काल शेष रहे, तब जो औपशमिक

---

१. अभव्याश्रिता मिथ्यात्वे, अनाद्यनन्ता स्थितिर्भवेत्।
सा भव्याश्रिता मिथ्यात्वे, अनादिसान्ता पुनर्मता॥ - *गुणस्थानक्रमारोह*

२. (क) सहैव तत्त्वश्रद्धानं रसास्वादनेन वर्त्तते इति सास्वादनः। - *समवायांग वृत्ति पत्र २६*

(ख) गुणस्थान क्रमारोह १२

३. आसादनं सम्यक्त्व विराधनम्। सह आसादनेन वर्तत इति सासादनो विनाशित सम्यगदर्शनोंऽप्राप्त मिथ्यात्व कर्मोदयजनित परिणामो मिथ्यात्वाभिमुखः सासादन इति मन्यते॥ - *षट्खंडागम धवला १५१६३*

४. (क) संयोजनोदये भ्रष्टो जीवः प्रथम दृष्टितः।
अन्तरालात् मिथ्यात्वो वर्ण्यते श्रस्वदर्शनः॥ - *सं. पंचसंग्रह १/२०*

(ख) अप अज्जद सदमा दो, णासिय सम्मो त्ति सासणक्खो सो॥- *गोम्मटसार जीवकांड ८*

५. काल के सब से सूक्ष्म अंश को समय कहते हैं और असंख्यात समय की एक आवली होती है। यह एक आवली प्रमाण काल भी एक मिनिट से बहुत छोटा होता है।

सम्यक्त्वी जीव अनन्तानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ में से किसी एक के भी उदय से सम्यक्त्व की विराधना होने पर सम्यक्त्व को छोड़कर मिथ्यात्व की ओर झुक रहा है; किन्तु जिसने अभी तक मिथ्यात्व को प्राप्त नहीं किया है; तब तक के लिए सम्यग्दर्शन गुण की जो अत्यक्त अतत्त्व श्रद्धानरूप परिणति होती है; उसे सास्वादन सम्यग्दृष्टि गुणस्थान और ऐसे स्वरूप विशेष वाले जीव को सास्वादन सम्यग्दृष्टि कहते हैं।

इसे एक उदाहरण द्वारा स्पष्ट करते हैं। जिस प्रकार पर्वत से गिरने पर और भूमि पर पहुँचने से पहले मध्य का जो काल है; वह न तो पर्वत पर ठहरने का काल है और न ही भूमि पर ठहरने का। वह तो अनुभव-काल है। इसी प्रकार अनन्तानुबंधी कषायों में से किसी एक का उदय होने से सम्यक्त्व परिणामों के छूटने और मिथ्यात्व प्रकृति का उदय न होने से मिथ्यात्व परिणामों के न होने पर मध्य के अनुभव काल में जो परिणाम होते हैं; उन्हे सास्वादन गुणस्थान कहते हैं।[१] इस गुणस्थान के समय यद्यपि जीव का झुकाव मिथ्यात्व की ओर होता है; तथापि जिस प्रकार खीर खा कर उसका वमन करने वाले को खीर का विलक्षण स्वाद अनुभव में आता है; उसी प्रकार सम्यक्त्व से गिर कर मिथ्यात्व की ओर उन्मुख हुए जीव को भी कुछ काल के लिए सम्यक्त्व गुण का विलक्षण आस्वादन अनुभव में आता है। इसीलिए इस गुणस्थान को सास्वादन सम्यग्दृष्टि गुणस्थान कहा जाता है।

सासादन दृष्टि की पृथक्ता का हेतुः-

सास्वादन गुणस्थान का ऊपर जो लक्षण बताया गया है; उससे सहज ही यह जिज्ञासा होती है कि जब सासादन गुणस्थानवाला जीव मिथ्यात्व का उदय न होने से मिथ्यादृष्टि नहीं है और समीचीन रुचि का अभाव होने से सम्यग्दृष्टि भी नहीं है तथा दोनों को विषम करने वाली सम्यग्-मिथ्यात्वरूप रुचि का अभाव होने से सम्यग् मिथ्यादृष्टि भी नहीं है (इनके अतिरिक्त और कोई चौथी दृष्टि नहीं है; क्योंकि समीचीन, असमीचीन और उभयरूप दृष्टि के आलंबनभूत वस्तु के अतिरिक्त दूसरी कोई वस्तु पायी नहीं जाती।); तब सासादन को गुणस्थान कैसे माना जा सकता है? वह तो असत्यरूप है। तो इसका उत्तर यह है कि सासादन गुणस्थान में विपरीत अभिप्राय रहता है; जिससे उसे सत्, असत् और उभय इन तीनों प्रकार की दृष्टि में से असत् दृष्टि ही समझा जाना चाहिये; किन्तु इसे मिथ्यादृष्टि इसलिए नहीं कहते हैं कि सम्यग्दर्शन और स्वरूपाचरण चारित्र का प्रतिबंध करने वाले अनन्तानुबंधी कषाय के उदय से उत्पन्न हुआ विपरीताभिनिवेश दूसरे गुणस्थान में पाया जाता

---

१. सम्मत्तरयण-पव्वयसिहरादो मिच्छभूमि समभिमुहो।
जासिय सम्मत्तो सो सासणजामो मुणेयव्वो॥ - गोम्मटसार जीवकाड २०

है। इसलिए द्वितीय गुणस्थानवर्ती जीव मिथ्यादृष्टि है; किन्तु मिथ्यात्व कर्म के उदय से उत्पन्न हुआ विपरीताभिनिवेश नहीं पाया जाता है; इस कारण इसे मिथ्यादृष्टि न कह, किन्तु सासादन सम्यग्दृष्टि कहते हैं।

उक्त कथन पर पुनः प्रश्न होता है कि जब वह मिथ्यादृष्टि ही है; तो फिर उसे मिथ्यादृष्टि संज्ञा क्यों नहीं दी गयी ? और सासादन सम्यक्त्व से आत्मा को क्या लाभ है ? तो इसका समाधान यह है कि सासादन गुणस्थान को स्वतंत्र कहने से अनन्तानुबंधी प्रकृतियों की द्विस्वभावता का यह कथन सिद्ध हो जाता है कि वे दर्शन की भी घातक हैं। तथा दर्शनमोहनीय के उदय, उपशम, क्षय और क्षयोपशम से जीवों के सासादनरूप परिणाम तो उत्पन्न होता नहीं है; जिससे कि इस गुणस्थान को मिथ्यादृष्टि, सम्यग्दृष्टि अथवा सम्यग्मिथ्यादृष्टि कहा जाये और जिस अनन्तानुबंधी के उदय से दूसरे गुणस्थान में जो विपरीताभिनिवेश होता है; वह अनन्तानुबंधी दर्शनमोह का भेद न हो कर चारित्र का आवरण करने वाला होने से चारित्रमोहनीय का भेद है। इसलिए दूसरे गुणस्थान को मिथ्यादृष्टि न कह कर सासादन सम्यग्दृष्टि कहा गया है।

दूसरी बात यह है कि जब तक आत्मस्वरूप मिथ्यात्व में परिणत न हो जाये; तब तक उसे मिथ्यात्वी कैसे कहा जा सकता है ? चाहे वह अत्यन्त स्वल्प काल के लिए ही क्यों न हो, उसे सम्यक्त्वी ही मानना पड़ेगा और वही स्थिति सासादन गुणस्थान द्वारा स्पष्ट की जाती है।

तीसरी बात यह है कि जब कर्मबंध के संबंध में विचार करते हैं; तब स्पष्ट ज्ञात होता है कि प्रथम गुणस्थान में बंधने वाली कर्म प्रकृतियों में से नरकत्रिक आदि सोलह प्रकृतियों का बंध इस गुणस्थान में नहीं होता। अतः उक्त प्रकृतियों के विच्छेद से जन्य रिक्तता का दिग्दर्शन होने से यह सासादन नामक पृथक् गुणस्थान है।

यद्यपि सास्वादन गुणस्थान विपरीताभिनिवेश से दूषित है; फिर भी इसमें भूतपूर्व प्रज्ञापन्न न्याय की दृष्टि से सम्यग्दृष्टित्व का व्यपदेश किया जाता है। क्योंकि जैसा पहले इसके लक्षण में स्पष्ट किया जा चुका है कि उपशम सम्यक्त्व से पतित होने पर भी सासादन गुणस्थान होता है तथा इस गुणस्थान में मति, श्रुत और अवधि ये तीनों ज्ञान अज्ञानरूप इसलिए हैं कि मिथ्यात्व का उदय तो यहाँ अवश्य नहीं है; किन्तु मिथ्यात्व ही विपरीताभिनिवेश का एक मात्र कारण नहीं है, पर अनन्तानुबंधी कषाय भी है। अर्थात् मिथ्यात्व और अनन्तानुबंधी कषाय इन दोनों के निमित्त से विपरीताभिनिवेश उत्पन्न होता है, जो अज्ञान का कारण है और सासादन गुणस्थान वाले के अनन्तानुबंधी का उदय तो पाया जाता ही है; इसीलिए सासादन गुणस्थान में मति आदि तीनों ज्ञान अज्ञान रूप कहे गये हैं।

सास्वादन गुणस्थान को पारिणामिक भाव मानने का कारणः-

गुणस्थानों में भावों का निर्देश करते हुए पूर्व में जो यह बताया गया है कि सास्वादन गुणस्थान पारिणामिक भाव है; उसका कारण इस प्रकार है-

यद्यपि अनन्तानुबंधी कषायों के उदय से सासादन गुणस्थान प्राप्त होता है; फिर भी उसे औदयिक भाव इसलिए नहीं कहते हैं कि यह दर्शनमोहनीय के उदय, उपशम, क्षय व क्षयोपशम के बिना उत्पन्न होने से सास्वादन गुणस्थान का कारण चारित्रमोहनीय ही हो सकता है और चारित्रमोहनीय को दर्शनमोहनीय मानने में विरोध है। क्योंकि दोनों के कार्य पृथक्-पृथक् हैं तथा आदि के चार गुणस्थानों संबंधी भावों की प्ररूपणा में दर्शनमोहनीय कर्म के सिवाय शेष कर्मों के उदय की विवक्षा का अभाव है। अर्थात् यह सासादन परिणाम क्षायिक इसलिए नहीं है, क्योंकि उसकी उत्पत्ति दर्शनमोह के क्षय से नहीं होती।यह क्षायोपशमिक इसलिए नहीं है क्योंकि दर्शनमोहनीय के देशघाती स्पर्धकों के उदय से उसकी उत्पत्ति नहीं होती। यह औपशमिक और औदयिक इसलिए नहीं है; क्योंकि इसकी उत्पत्ति दर्शनमोह के उपशम और उदय से नहीं होती। अतएव परिशेष न्याय से सासादन गुणस्थान में पारिणामिक भाव ही सिद्ध होता है। यद्यपि अनन्तानुबंधी कषाय दर्शन और चारित्र दोनों में मोह उत्पन्न करने वाले होने से उभय मोहनीय है; किन्तु यहाँ वैसी विवक्षा नहीं है। क्योंकि अनन्तानुबंधी चारित्रमोहनीय ही है; अतः इसी विवक्षा से सासादन गुणस्थान को पारिणामिक भाव कहा गया है और कथंचित् विवक्षा भेद से अनन्तानुबंधी चतुष्क में से अन्यतम का उदय होने की अपेक्षा से सासादन गुणस्थान को औदयिक भाव भी माना जाये, तो किसी प्रकार की दोषापत्ति नहीं है। लेकिन सामान्य से, बिना किसी विवक्षा के और आदि के चार गुणस्थानों संबंधी भावों की प्ररूपणा की दृष्टि से सासादन गुणस्थान पारिणामिक भाव है।

सास्वादन गुणस्थान का स्वामित्वः-

यह गुणस्थान नरक आदि चारों गतियों के जीवों में पाया जाता है। अर्थात् इसके स्वामी चारों ही गतियों के जीव हैं; लेकिन इतनी विशेषता है कि नरकगति में आते ही पृथ्वियों के पर्याप्त नारकों में पाया जाता है, अपर्याप्त नारकों में नहीं। तिर्यंचगति में पर्याप्त और अपर्याप्त दोनों प्रकार के पंचेन्द्रिय तिर्यंच इसके स्वामी हैं। देवगति में भवनवासी से उपरिम ग्रैवेयक पर्यन्त के सभी देवों व देवियों में पर्याप्त व अपर्याप्त दोनों अवस्थाओं में तथा मनुष्य गति में भी मनुष्य व मनुष्यिनी की पर्याप्त व अपर्याप्त दोनों अवस्थाओं में यह गुणस्थानन होना संभव है।

३. मिश्रगुणस्थानः-

इसका पूरा नाम सम्यग्-मिथ्यादृष्टि है; किन्तु संक्षेप में समझने के लिए इसे मिश्रगुणस्थान कहते हैं। दर्शनमोहनीय के तीन पुंजों सम्यक्त्व (शुद्ध), मिथ्यात्व (अशुद्ध) और सम्यग्- मिथ्यात्व (अर्धशुद्ध) में से जब अर्धशुद्ध पुंज का उदय होता है, तब जैसे शक्कर से मिश्रित दही का स्वाद कुछ खट्टा और कुछ मीठा अर्थात् मिश्र होता है; इसी प्रकार जीव की दृष्टि भी कुछ सम्यक् (शुद्ध) और कुछ मिथ्या (अशुद्ध) अर्थात् मिश्र हो जाती है। इसी से वह जीव सम्यक् मिथ्यादृष्टि और उसका स्वरूप - विशेष सम्यग्- मिथ्यादृष्टि गुणस्थान (मिश्र गुणस्थान) कहलाता है।[१]

आत्मा के गुणों का घात करने वाली कर्मप्रकृतियों में से जात्यन्तर सर्वघाती सम्यग् मिथ्यात्व प्रकृति का कार्य विलक्षण प्रकार का होता है। उसमें केवल सम्यक्त्व रूप या केवल मिथ्यात्वरूप परिणाम न हो कर दोनों के मिलेजुले (मिश्ररूप) परिणाम होते हैं। अर्थात् एक ही काल में सम्यक्त्व और मिथ्यात्व रूप परिणाम होते हैं।[२] इस अवस्था में बुद्धि में दुर्बलता सी छा जाती है; जिससे जीव सर्वज्ञप्रणीत तत्त्वों पर न तो एकान्त रुचि करता है और न ही एकान्त अरुचि। किन्तु नारिकेल द्वीप में उत्पन्न मनुष्य को जैसे चावल आदि अन्न के विषय में समभाव रहता है; वैसे वह मध्यस्थ रहता है। अर्थात् जिस द्वीप में प्रधानतया नारियल पैदा होता है; वहाँ के निवासी चावल आदि अदृष्ट और अश्रुत अन्न को देख कर न तो उसके विषय में रुचि करते हैं और न ही घृणा; किन्तु वे मध्यस्थ भाव रखते हैं। इसी प्रकार सम्यग् मिथ्यादृष्टि जीव भी सर्वज्ञ कथित मार्ग पर प्रीति या अप्रीति न करके समभाव में ही रहते हैं।

उक्त कथन का विशेष स्पष्टीकरण इस प्रकार है औपशमिक सम्यक्त्व में वर्त्तमान जीव मिथ्यात्व-मोहनीय के परमाणुओं को उपशमित करके उन्हें तीन पुंजों में विभक्त करता है-शुद्ध, अर्धशुद्ध और अशुद्ध। शुद्ध पुंज में सम्यक्त्वघातिनी

---

१. सम्मामिच्छुदयेण य, जत्तंतर सव्वघादि कज्जेण।
न य सम्मं मिच्छं पि य, सम्मिस्सो होदि परिणामो॥ - *गोम्मटसार जीवकांड २१*

२. (क) दहिगुडमिव वा मिस्सं, पुहभावं जेण कारिदुं सक्कं।
एवं मिस्स य भावो सम्मामिच्छो त्ति णादव्वो॥ - *गोम्मटसार जीवकांड २२*

(ख) सम्यग् मिथ्यारुचिर्मिश्रः, सम्यग् मिथ्यात्व पाकतः।
सुदुष्करः पृथाभावो, दधिमिश्र गुडोपमः॥ - *सं. पंच संग्रह १/२२*

(ग) गुणस्थान क्रमारोह

शक्ति का निरन्वय अभाव नहीं होता. अर्द्ध पुंज में सम्यक्त्व और मिथ्यात्व दोनों परिणामों का मिश्रण होता है और अशुद्ध पुंज में सम्यक्त्व का घात करने की शक्ति होती है। यद्यपि औपशमिक सम्यक्त्व प्राप्त होते ही जीव सम्यग्दृष्टि बनता है और चौथा अविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान प्राप्त कर लेता है; किन्तु उसकी स्थिति सिर्फ अन्तर्मूहूर्त्त प्रमाण ही होती है। उस स्थिति के पूर्ण होने पर जीव के पूर्व में जैसे परिणाम होते हैं; उसी जाति के पुंज का उदय हो जाता है और तदनुसार ही वह क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टि अथवा मिथ्यादृष्टि बन जाता है।

औपशमिक सम्यक्त्व प्राप्त होते ही आत्मा पूर्ण प्रशान्त बन जाती है; किन्तु जब उसके समय की अंतिम छह आवलिकाएँ शेष रह जाती हैं; तब परिणामों की प्रशान्तता भंग होने के कारण वह जीव अशुद्ध पुंज की ओर झुकता है। प्रशान्त स्थिति से अशान्त स्थिति में पहुँचने में से उसे अत्यन्त अल्प समय लगता है। उस समय वह सास्वादन सम्यग्दृष्टि की विचारधारा में रहता है और पतन करते हुए आत्म-विकास की न्यूनतम भूमिका मिथ्यात्व को प्राप्त कर लेता है। क्योंकि साधारण रूप से मुख्यतया सभी जीव अपने विकास के प्रारंभ में इसी अवस्था में रहते हैं।

जीव विकासोन्मुख होकर पहले गुणस्थान से चौथे गुणस्थान में जाता है। उस गुणस्थान में यदि दर्शनमोह का क्षय हो जाये; तो जीव अपक्रमण नहीं करता और यदि वह उपशान्त या क्षयोपशम की अवस्था में हो; तो उसके लिए अपक्रमण और उपक्रमण दोनों की संभावना रहती है। यदि क्षयोपशम अवस्था में अपक्रमण पतन करे; तो चौथे गुणस्थान से पहले गुणस्थान में आ पहुँचता है तथा उपशान्त अवस्था में अपक्रमण करे; तो अंतिम समय में दूसरे गुणस्थान का अनुभव करता है और जब उसकी स्थिति पूर्ण हो जाये; तब या तो तीसरे गुणस्थान में जाता है अथवा पहले गुणस्थान में। प्रशान्त स्थिति से चलित होने के अनन्तर यदि क्षायोपशमिक सम्यक्त्व की अवस्था में चला जाये, तो वह जीव चौथे गुणस्थान में ही रह जाता है।

दोलायमान स्थिति रहने से मिश्र गुणस्थान में न तो जीव पर-भव संबंधी आयु का ही बंध कर सकता है[१] और न ही उसका मरण होता है। यदि इस गुणस्थानवाला जीव मरण करता है; तो सम्यक्त्व या मिथ्यात्वरूप दोनों परिणामों में से किसी एक को प्राप्त करके ही मर सकता है।[२] अर्थात् इस गुणस्थान को प्राप्त करने से पहले सम्यक्त्व या मिथ्यात्व रूप परिणामों में से जिस गति के परिणाम काल में परभव

---

१. सम्मामिच्छादिट्ठी आउबंधं पि न करेइ नि।

२. आयुर्बध्नाति नो जीवो, मिश्रस्थो म्रियते न वा।
सद्दृष्टिर्वा कुदृष्टिर्वा, भूत्वा मरणमश्नुते॥ - *गुणस्थान क्रमारोह १६*

संबंधी आयु का बंध किया हो; उसी तरह के परिणाम हो जाने पर उसका मरण होता है। इसके अतिरिक्त सम्यग् मिथ्यादृष्टि जीव संयम (सकल संयम और एकदेश संयम) को भी ग्रहण नहीं कर सकता। इस गुणस्थान में मारणान्तिक समुद्घात भी नहीं हो सकता।[१]

मिथ्यात्व मोहनीय के अर्धविशुद्ध पुंज (सम्यग् मिथ्यात्व मिश्र) का उदय सिर्फ अन्तर्मुहूर्त्त पर्यन्त रहता है। इसके अनन्तर शुद्ध या अशुद्ध किसी एक पुंज का उदय हो जाता है। अतएव तीसरे गुणस्थान की कालस्थिति अन्तर्मुहूर्त्त पर्यन्त होती है।

मिश्र गुणस्थान में क्षायोपशमिक भाव मानने का कारण:-

मिश्र गुणस्थान में क्षायोपशमिक भाव इसलिए है कि वर्तमान समय में मिथ्यात्व कर्म के सर्वघाती स्पर्धकों का क्षय होने से सत्ता में रहने वाले उसी मिथ्यात्व कर्म के सर्वघाती स्पर्धकों का उदयाभाव लक्षण उपशम होने से और सम्यग् मिथ्यात्व कर्म के सर्वघाती स्पर्धकों का उदय होने से सम्यग्-मिथ्यात्व गुणस्थान उत्पन्न होता है। इसीलिए मिश्र गुणस्थान क्षायोपशमिक है। अथवा सम्यक्त्व प्रकृति के देशघाती स्पर्धकों का उदय-क्षय होने से सत्ता में स्थित उन्हीं देशघाती स्पर्धकों का उदयभाव लक्षण उपशम होने से और सम्यग् मिथ्यात्व कर्म के सर्वघाती स्पर्धकों का उदय होने से सम्यग् मिथ्यात्व गुणस्थान उत्पन्न होता है। परन्तु यहाँ यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि वास्तव में तो सम्यग् मिथ्यात्व कर्म निरन्वय रूप से आप्त, आगम और पदार्थ विषयक श्रद्धा का नाश करने के प्रति असमर्थ है; किन्तु उसके उदय से समीचीन और असमीचीन पदार्थ को युगपत् विषय करने वाली श्रद्धा उत्पन्न होती है। इसीलिए सम्यग् मिथ्यात्व गुणस्थान क्षायोपशमिक माना जाता है। अन्यथा उपशम सम्यग्दृष्टि के सम्यग् मिथ्यात्व गुणस्थान को प्राप्त होने पर उसमें क्षयोपशम स्थिति नहीं बन सकती। क्योंकि उस जीव के ऐसी अवस्था में सम्यक्त्व प्रकृति, मिथ्यात्व और अनन्तानुबंधी इन तीनों का ही उदयाभावी क्षय नहीं पाया जाता।

यद्यपि तीसरे गुणस्थान में सम्यग् मिथ्यात्व प्रकृति का उदय है; लेकिन उसका उदय होने पर भी इस गुणस्थान में औपशमिक भाव न कहकर क्षायोपशमिक भाव

---

१. सो संजयं ण गिह्णदि वा, देससंजमं वा ण बंधदि आउं।
सम्मं वा मिच्छं वा, पडिवज्जिय मरदि णियमेण॥
....मरणंत समुग्घादो वि य ण मिस्सम्मि॥ - *गोम्मटसार जीवकांड २३, २४*

मूल शरीर को बिना छोड़े ही आत्मा के प्रदेशों को बाहर निकालना समुद्घात कहलाता है। इसके सात भेद हैं - वेदना, कषाय, वैक्रिय, मारणान्तिक, तैजस, आहारक और केवल। मरण से पूर्व समय में होने वाले समुद्घात को मारणान्तिक समुद्घात कहते हैं।

इसलिए माना गया है कि मिथ्यात्व प्रकृति के उदय से जिस प्रकार सम्यक्त्व का निश्चय नाश होता है; उसी प्रकार सम्यग् मिथ्यात्व प्रकृति के उदय से सम्यक्त्व का सद्भाव रहता है। और सम्यक्त्व का सद्भाव मानना इसलिए जरूरी है कि सम्यग् मिथ्यात्व जात्यन्तर घाती प्रकृति है; जिसका कार्य न तो मिथ्यात्व मोहनीय और न ही सम्यक्त्व मोहनीय द्वारा होना संभव है। अतः इन सब कारणों से तीसरे गुणस्थान में औदयिक भाव न कह कर क्षायोपशमिक भाव कहा गया है।

दूसरे और तीसरे गुणस्थान में अन्तर:-

दूसरे और तीसरे गुणस्थान के संबंध में यह ध्यान में रखने योग्य बात है कि सम्यक्त्व अथवा तत्त्वज्ञान वाले ऊपर के चौथे आदि गुणस्थानों से च्युत हो कर जब कोई आत्मा शून्य या मिथ्यादृष्टिवाली प्रथम भूमिका की ओर उन्मुख होती है; तब बीच में अधःपतनोन्मुख उस आत्मा की जो कुछ अवस्था होती है; वही दूसरा गुणस्थान है। यद्यपि इस गुणस्थान में पहले गुणस्थान की अपेक्षा आत्मशुद्धि कुछ अधिक अवश्य होती है; इसीलिए इसका क्रम पहले के बाद रखा गया है। लेकिन इतने मात्र से इस गुणस्थान को हम उत्क्रान्ति का स्थान नहीं कह सकते; क्योंकि उत्क्रान्ति करने वाली आत्मा प्रथम गुणस्थान को छोड़कर दूसरा गुणस्थान सीधे तौर पर प्राप्त नहीं करती; किन्तु ऊपर के गुणस्थानों से पतित होनेवाली आत्मा ही इसकी अधिकारिणी बनती है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि दूसरा गुणस्थान आरोहण क्रम से नहीं, अवरोहण क्रम से अथवा उत्क्रान्ति से नहीं, अवक्रान्ति से प्राप्त होने वाला गुणस्थान है।

ऊपर के गुणस्थानों से अवक्रम या अधःपतन होने का कारण मोह का उद्रेक है। इस कारण इस गुणस्थान में मोह की तीव्र काषायिक शक्ति का आविर्भाव पाया जाता है। जैसे मिष्ट पदार्थों को खाने के बाद वमन होने पर एक प्रकार का विलक्षण स्वाद अर्थात् न तो अधिक मधुर और न अति आम्ल जैसा पाया जाता है। इसी प्रकार की विलक्षण स्थिति दूसरे गुणस्थान के समय आत्मपरिणामों की होती है। क्योंकि उस समय आत्मा न तो तत्त्वज्ञान की भूमिका पर होती है और न ही तत्त्वज्ञान से शून्य निश्चित भूमिका पर होती है। इसे एक लौकिक दृष्टान्त द्वारा इस प्रकार समझा जा सकता है कि जैसे कोई व्यक्ति ऊपर की मंजिल पर चढ़ रहा हो और अकस्मात् फिसल जाने पर जब तक जमीन पर आ कर नहीं ठहर जाता, तब तक बीच में विलक्षण अवस्था का अनुभव करता है। वह स्थिति स्थिर और अस्थिर के बीच एक प्रकार की विलक्षण दशा ही होती है। इसी प्रकार सम्यक्त्व से गिरकर मिथ्यात्व को पाने के बीच में आत्मा एक विलक्षण आध्यात्मिक अवस्था का अनुभव करती है। उसका दिग्दर्शक दूसरा गुणस्थान है।

परन्तु तीसरा गुणस्थान आत्मा की उस मिश्रित अवस्था का परिचायक है, जिस में न तो केवल सम्यग्दृष्टि होती है और न ही मिथ्यादृष्टि; किन्तु एक प्रकार की दोलायमान स्थिति होती है। उसका संकेत ऊपर लक्षण बताने के प्रसंग में किया जा चुका है। इस गुणस्थानवर्ती आत्मा की बुद्धि में निर्णय करने की क्षमता न होने से वह न तो एकान्त रूप से तत्त्व को अतत्त्व मानती है और न अतत्त्व को तत्त्व रूप से मानती है। वह तत्त्व अतत्त्व का पूर्ण विवेक नहीं कर पाती। यद्यपि संशय और विनय मिथ्यात्व में भी मिश्र गुणस्थान से मिलती-जुलती दोलायमान स्थिति दिखाई देती है। (वैनयिक और संशयित मिथ्यादृष्टि भी यही मानता है कि चाहे जिससे हो, मुझे तो एक देव से मतलब है अथवा सभी देव वन्दनीय है; अतः निन्दा किसी की नहीं करनी चाहिये।) लेकिन संशयित और वैनयिक मिथ्यादृष्टि और मिश्रदृष्टि में यह अन्तर है कि उक्त मिथ्यादृष्टि द्वय को तो सभी देवों में तथा शास्त्रों में से किसी एक देव में निश्चय नहीं है और मिश्र गुणस्थानवर्ती जीव को दोनों में निश्चय है।

तीसरा गुणस्थान उत्क्रान्ति के समय भी और अवक्रान्ति के समय भी, इस प्रकार दोनों समयों में आत्मा प्राप्त कर सकती है। कोई आत्मा तो प्रथम मिथ्यात्व गुणस्थान से उत्क्रान्ति करके सीधे तीसरे गुणस्थान को प्राप्त करती है और कोई अवक्रान्ति करने वाली आत्मा चौथे आदि गुणस्थानों से गिरकर तीसरा गुणस्थान प्राप्त करती है। इस प्रकार तीसरा गुणस्थान आरोह और अवरोह, उत्क्रान्ति और अवक्रान्ति करनेवाली आत्माओं के लिए आश्रयस्थल है। लेकिन दूसरा गुणस्थान तो निश्चित रूप से चौथे आदि गुणस्थान से पतित हो कर आने वाली आत्मा को ही प्राप्त होता है। यही दूसरे और तीसरे गुणस्थान में विशेषता एवं अन्तर है।

४. अविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थानः-

हिंसादि सावद्य व्यापारों को छोड़ देने को, पापजनक प्रयत्नों से अलग हो जाने को विरति कहते हैं।[१] चारित्र और व्रत ये विरति के अपर नाम हैं। जो जीव सम्यग्दृष्टि हो कर भी किसी प्रकार के व्रत को धारण नहीं कर सकता; वह जीव अविरत सम्यग्दृष्टि है और उसका स्वरूप-विशेष अविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान है।[२] इस गुणस्थानवर्ती जीव को अविरत सम्यग्दृष्टि कहने का और सम्यग्दर्शन के साथ संयम न होने का कारण यह है कि यहाँ पर एकदेश-संयम का घातक अप्रत्याख्यानावरण कषाय का उदय रहता है। यद्यपि इस गुणस्थानवर्ती जीव

---

१. हिंसानृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहेभ्यो विरतिर्व्रतम्। -तत्त्वार्थसूत्र ७/१

२. पाकाच्चारित्रमोहस्य व्यस्तप्राण्यक्ष संयमः।
त्रिण्वेकतम सम्यक्त्वः, सम्यग्दृष्टिरसंयतः॥ - सं. पंच संग्रह १/२३

इन्द्रिय-विषयों तथा त्रस-स्थावर जीवों की हिंसा से विरत नहीं है और जिनेन्द्र द्वारा कथित प्रवचन पर श्रद्धान करता है; किन्तु यह भी स्पष्ट समझ लेना चाहिए कि बिना प्रयोजन वह हिंसादि कार्यों में प्रवृत्ति नहीं करता और प्रवृत्त भी नहीं होता।

सम्यग्दृष्टि जीव केवली द्वारा उपदिष्ट प्रवचन का श्रद्धान करता है। यदि अज्ञानतावश विपरीत अर्थ का भी श्रद्धान कर लेता है; तो जैसे ही गुरुजनों द्वारा उसे शास्त्र का अर्थ समझाया जाता है, वैसे ही असमीचीन श्रद्धान को छोड़ कर समीचीन श्रद्धान धारण कर लेता है। यदि वह विपरीत अर्थ के श्रद्धान को न छोड़े, तो मिथ्यादृष्टि कहलाने लगता है; क्योंकि पूर्व के असमीचीन श्रद्धान में अजानकारी (अज्ञान) कारण था। लेकिन गुरु द्वारा स्पष्ट किये जाने पर भी यदि वह अपने आग्रह पर दृढ़ रहता है; तो सत्य के प्रति श्रद्धान न होने से वह मिथ्यादृष्टि है।[१]

अव्रती जीवों के सात प्रकार:-

१. जो व्रतों को न जानते हैं और न स्वीकारते हैं; ऐसे साधारण जन।

२. जो व्रतों को जानते नहीं हैं और स्वीकारते नहीं हैं; किन्तु पालते हैं, ऐसे बाल तपस्वी।

३. जो व्रतों को जानते नहीं हैं, किन्तु स्वीकारते हैं और स्वीकार करके पालते नहीं हैं, ऐसे साधु वेषधारी।

४. जिनको व्रतों का ज्ञान नहीं है; किन्तु जो उनको स्वीकारते हैं और पालते हैं; ऐसे अगीतार्थ मुनि।

५. जिनको व्रतों का ज्ञान है; किन्तु जो व्रतों का स्वीकार व पालन नहीं कर सकते, ऐसे देव, वासुदेव आदि सम्यग्दृष्टि जीव।

६. जो व्रतों को जानते हुए भी स्वीकार नहीं करते, किन्तु उनका पालन करते हैं; ऐसे अनुत्तर विमानवासी देव।

७. जो व्रतों को जानकर स्वीकार कर लेते हैं; किन्तु बाद में उनका पालन नहीं कर सकते, ऐसे संविज्ञ पाक्षिक।

अविरत के उक्त सात प्रकारों में से आदि के चार प्रकार के अविरत जीवों को व्रतों का ज्ञान ही नहीं होने से वे मिथ्यादृष्टि ही हैं और अन्त के तीन पदार्थज्ञान होने

---

१. सम्माइट्ठी जीवो, उवइट्ठं पवयणं तु सद्दहदि।
सद्दहदि असब्भावं, अजाणमाणो गुरुणियोगा॥
सुत्तादो तं सम्मं, दरिसज्जं तं जदा ण सद्दहदि।
सो चेव हवदि मिच्छाइट्ठी जीवो तदो पहुदी॥ - *गोम्मटसार जीवकांड २७, २८*

से सम्यग्दृष्टि हैं। क्योंकि वे यथाविधि व्रतों का ग्रहण तथा पालन नहीं कर सकते, किन्तु उन्हें यथार्थ मानते हैं। सम्यग्ज्ञान, सम्यग् ग्रहण और सम्यक् पालन से ही व्रत सफल होते हैं। जिन्हें व्रतों, सम्यग्ज्ञान नहीं है, जो व्रतों को विधिपूर्वक ग्रहण नहीं करते और जो व्रतों का यथार्थ पालन नहीं करते; वे घुणाक्षर न्याय से व्रतों का पालन भी कर लें; तो भी उससे फलप्राप्ति संभव नहीं है। अविरत सम्यग्दृष्टि जीवों में से कई औपशमिक कई क्षायिक और कई क्षायोपशमिक सम्यक्त्व वाले होते हैं।

५. देशविरत गुणस्थान :-

प्रत्याख्यानवरण (सकल-संयम का घातक) कषाय का उदय होने से जो जीव पापजनक क्रियाओं से सर्वथा निवृत्त तो नहीं हो सकते; किन्तु अप्रत्याख्यानावरण (एकदेश-संयम का घातक) कषाय का उदय न होने से देश (अंश) से पापजनक क्रियाओं से निवृत्त होते हैं; वे देशविरत श्रावक कहलाते हैं। उनकी इस आंशिक त्यागमयी अवस्था को देशविरत गुणस्थान कहते हैं।[१]

इस गुणस्थान का दूसरा नाम विरताविरत गुणस्थान भी है; क्योंकि इस गुणस्थानवर्ती जीव सर्वज्ञ वीतराग के कथन में श्रद्धा रखता हुआ त्रस जीवों की हिंसा से विरत होता ही है; किन्तु निष्प्रयोजन स्थावर जीवों की भी हिंसा नहीं करता है। अर्थात् त्रस जीवों के त्याग की अपेक्षा से विरत और स्थावर हिंसा की अपेक्षा से अविरत होने से विरताविरत कहलाता है।[२] देशसंयत, संयतासंयत भी इसके अपरनाम हैं। इन सब का आशय एक ही है।

श्रावक के अहिंसाणुव्रत आदि पाँच अणुव्रत, दिग्व्रत आदि तीन गुणव्रत और सामायिक आदि चार शिक्षाव्रत इस प्रकार कुल बारह व्रत हैं। इनका पालन करने वाला देशविरत कहलाता है। कई श्रावक एक व्रत लेते हैं, कई दो व्रत लेते हैं एवं कई तीन, चार, पाँच या बारह व्रत लेते हैं तथा श्रावक की ग्यारह प्रतिमाओं को धारण कर आत्मा का कल्याण करते हैं। इस प्रकार अधिक से अधिक व्रतों का पालन करने वाले श्रावक ऐसे भी होते हैं, जो पाप कर्मों में अनुमति के सिवाय किसी प्रकार से सहभाग नहीं लेते।

अनुमति के तीन प्रकार है-प्रतिसेवानुमति, प्रतिश्रवणानुमति और सहवासानुमति। अपने या दूसरे के लिए किए हुए भोजन आदि का उपयोग करना प्रतिसेवा-

---

१. पच्चक्खाणुदयादो, संजय भावो ण होदि णवरि तु।
थोव वदो होदि तदो, देसवदो होदि पंचमओ॥ - *गोम्मटसार जीवकांड ३०*

२. जो तसवहाउ विरदो, अविरदो तह य थावरवहादो।
एक्क समयम्हि जीवो, विरदाविरदो जिणेक्कमई॥ - *गोम्मटसार जीवकांड ३१*

नुमति है। पुत्र आदि किसी संबंधी के द्वारा किये गये पाप कर्मों को केवल सुनना और सुनकर भी उन कार्यों को करने से उन्हें न रोकना प्रतिश्रवणानुमति है। पुत्र आदि अपने संबंधियों के पाप कार्य में प्रवृत्त होने पर उनके ऊपर सिर्फ ममता रखना अर्थात् न तो पाप कार्य को सुनना और सुन कर भी न उसकी प्रशंसा करना सहवासानुमति है। जो श्रावक पापजनक आरंभ-समारंभों में किसी भी प्रकार से योग नहीं देता, केवल सहवासानुमति को सेवता है; वह अन्य सब श्रावकों से श्रेष्ठ है।

इस गुणस्थान का काल जघन्य से अन्तर्मुहुर्त्त और उत्कृष्ट से देशोनपूर्व कोटि प्रमाण है।

आदि के चार गुणस्थान चारों गतियों-देव, मनुष्य तिर्यंच और नरक के जीवों के होते हैं; किन्तु पाँचवाँ गुणस्थान मनुष्य और तिर्यंचों के ही होता है। तिर्यंचों में भी केवल संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त तिर्यंच को संभव है; अन्य एकेन्द्रिय से असंज्ञी पर्यन्त नहीं। भोगभूमिजों को नहीं, कर्मभूमिजों में आर्य खंड के तिर्यंचों को होता है; म्लेच्छ खंड में नहीं। मनुष्यों में केवल कर्मभूमिजों को संभव है, भोगभूमिजों को नहीं। कर्मभूमिजों में भी आर्य खंड में होता है, म्लेच्छ खंड में नहीं। पर्याप्तकों में ही होता है, अपर्याप्तकों में नहीं। जिसने पहले देवायु के अतिरिक्त शेष तीन आयुओं में से किसी एक का बंध कर लिया हो, ऐसा जीव देशविरत गुणस्थान को प्राप्त नहीं हो सकता। क्षायिक सम्यग्दृष्टि देशव्रती मनुष्यगति में ही जन्म लेते हैं, तिर्यंचों में नहीं।

६. प्रमत्त संयत गुणस्थानः-

पाँचवाँ देशविरत गुणस्थान मनुष्यों और तिर्यंचों के होता है, पर छठा प्रमत्त संयत गुणस्थान सिर्फ मनुष्यों के ही हो सकता है, अन्य किसी के नहीं। कर्मभूमियों में आर्य खंड में रहनेवाले पर्याप्तक मनुष्यों के ही यह गुणस्थान हो सकता है और आगे के भी गुणस्थान हो सकते हैं।

इस छठे सर्व विरति गुणस्थान में जीव इतना शक्तिशाली हो जाता है कि वह मोह के बादलों को बिखेर देता है और सम्यक्त्व के प्रकाश में आगे बढता जाता है। चौथे गुणस्थानवाला जीव भी पंच महाव्रतों के स्वीकार पूर्वक संयम ग्रहण करके सीधे छठे गुणस्थान को प्राप्त कर सकता है। इस गुणस्थान में रहा हुआ जीव सर्वविरति का पालन करता है; पर प्रमाद के कारण उसके पुरुषार्थ में कुछ कमी रह जाती है, फिर भी वह संयम में दृढ रहता है। इस कारण से इसे प्रमत्त संयत गुणस्थान कहते हैं।

७. अप्रमत्त संयत गुणस्थान

छठे गुणस्थान में रहा हुआ जीव अपने आत्मगुणों का विकास करता है। वह प्रमाद को दूर करने का प्रयत्न करता है। ऐसा करते करते वह सातवें अप्रमत्त संयत गुणस्थान को प्राप्त करता है। इस गुणस्थान में जीव केवल अन्तर्मुहूर्त्त तक ही रह सकता है। वह छठे और सातवें गुणस्थान के बीच झूलता रहता है। इस पंचम काल में भरतक्षेत्र में जीव के छठा-सातवाँ गुणस्थान ही हो सकता है। इसके आगे के गुणस्थान चतुर्थ काल में ही संभव हैं।

८. निवृत्ति (अपूर्वकरण) गुणस्थान :-

जो जीव संयम के घातक प्रत्याख्यानावरण कषाय का उदय न रहने से तीन करण करता है; वह अपूर्णकरण नामक गुणस्थान में आता है। उपशम और क्षपक इन दोनों श्रेणियों का प्रारंभ यद्यपि नौवें गुणस्थान से होता है; किन्तु उस की आधारशिला इस गुणस्थान में रखी जाती है। आठवाँ गुणस्थान दोनों प्रकार की आधारशिला बनाने के लिए है।आठवें गुणस्थान में क्षपक श्रेणीवाला मोहनीय कर्म का क्षय करके दसवें गुणस्थान से सीधा बारहवें गुणस्थान को प्राप्त कर के अपने उपलब्ध आत्म-स्वरूप से अधःपतन नहीं करता, बल्कि आगे बढ़ता हुआ पूर्ण स्वरूप को प्राप्त कर लेता है।

आठवें गुणस्थान में वर्तमान जीव पाँच बातों-पदार्थों का अपूर्व विधान करता है-

१. **स्थितिघात-** कर्मों की लंबी स्थिति को अपवर्तनाकरण के द्वारा घटाकर छोटी करना स्थितिघात है। अर्थात् जो कर्मदलिक आगे उदय में आनेवाले हैं; उन्हें अपवर्तनाकरण के द्वारा अपने उदय के नियत समय से हटा देना और शीघ्र उदय में आने योग्य बनाकर वर्तमान के उदय योग्य के साथ भोग लेना स्थितिघात कहलाता है.

२. **रसघात-** बँधे हुए कर्मों के फल देने की तीव्र शक्ति को अपवर्तनाकरण के द्वारा मंद कर देना रसघात कहलाता है।

३. **गुणश्रेणी-** जिन कर्मदलिकों का स्थितिघात किया गया था; उन्हें समय के क्रम से अन्तर्मुहूर्त्त में स्थापित कर देना गुणश्रेणी है। स्थापित करने का क्रम इस प्रकार है-

उदय समय से ले कर अन्तर्मुहूर्त्त पर्यन्त के जितने समय होते हैं; उनमें से उदयावली के समयों को छोड़ कर शेष रहे समयों में से प्रथम समय में जो दलिक

स्थापित किये जाते हैं; वे कम होते हैं। दूसरे समय में स्थापित किये जाने वाले दलिक पहले समय में स्थापित दलिकों से असंख्यातगुणे अधिक होते हैं। इस प्रकार अन्तर्मुहूर्त के चरम समय तक आगे आगे के समय में स्थापित किये जाने वाले दलिक पहले पहले के समय में स्थापित किये गये दलिकों से असंख्यातगुणे अधिक समझने चाहिए।

४. **गुणसंक्रमण**- पहले बँधी हुई अशुभ प्रकृतियों को वर्तमान में बँध रही शुभ प्रकृतियों में स्थानान्तरित कर देना, परिणत कर देना गुणसंक्रमण है। गुणसंक्रमण का क्रम संक्षेप में इस प्रकार है-

प्रथम समय में अशुभ प्रकृतियों के जितने दलिकों का शुभ प्रकृतियों में संक्रमण होता है; उसकी अपेक्षा दूसरे समय में असंख्यातगुणे अधिक दलिकों का संक्रमण होता है, तीसरे समय में दूसरे की अपेक्षा असंख्यातगुणे इत्यादि। इस प्रकार जब तक गुणसंक्रमण होता रहता है; तब तक पहले पहले समय में संक्रमित किये गये दलिकों से आगे आगे के समय में असंख्यातगुणे अधिक दलिकों का संक्रमण होता है।

५. **अपूर्व स्थितिबंध**:- पूर्व की अपेक्षा अत्यन्त अल्प स्थिति के कर्मों का बंध करना अपूर्व स्थिति बंध है। यद्यपि स्थितिघात आदि ये पाँचों बातें पहले के गुणस्थानों में भी होती हैं; तथापि आठवें गुणस्थान में ये अपूर्व ही होती हैं। क्योंकि पूर्व गुणस्थानों में अध्यवसायों की जितनी शुद्धि होती है; उसकी अपेक्षा आठवें गुणस्थान में उनकी शुद्धि अधिक होती है। तथा पूर्व के गुणस्थानों में बहुत कम स्थितिघात व अत्यल्प रसघात होता है, परन्तु आठवें गुणस्थान में अधिक स्थितिघात और अधिक रसघात होता है। इसी प्रकार पहले के गुणस्थानों में गुणश्रेणी की काल मर्यादा अधिक होती है तथा जिन कर्मदलिकों की गुणश्रेणी (रचना या स्थापना) की जाती है, वे दलिक अल्प होते हैं। किन्तु आठवें गुणस्थान में गुणश्रेणी योग्य दलिक तो अधिक होते हैं और गुणश्रेणी का कालमान बहुत कम होता है। पहले के गुणस्थानों की अपेक्षा गुणसंक्रमण बहुत कर्मों का होता है। अतएव वह अपूर्व होता है और इतनी अल्प स्थिति के कर्म बाँधे जाते हैं कि उतनी अल्प स्थिति के कर्म पहले के गुणस्थानों में कभी नहीं बँधते। सारांश यह है कि इस गुणस्थान में स्थितिघात, रसघात आदि का पूर्व गुणस्थानों की अपेक्षा अपूर्व विधान होने के कारण यह गुणस्थान अपूर्वकरण कहलाता है।

आठवें गुणस्थान में आत्मा की विशिष्ट योगी रूप अवस्था प्रारंभ होती है, जो औपशमिक या क्षायिक भावरूप विशिष्ट फल पैदा करने के लिए चारित्र मोहनीय

कर्म के उपशमन या क्षय से प्राप्तव्य है और इसे करने के लिए भी तीन करण करने पड़ते हैं, यथाप्रवृत्ति करण, अपूर्वकरण, और अनिवृत्तिकरण। इनमें यथाप्रवृत्तिकरण रूप सातवाँ गुणस्थान है, अपूर्णकरण रूप आठवाँ गुणस्थान है और अनिवृत्तिकरण रूप नौवाँ गुणस्थान है।

जो जीव अपूर्वकरण गुणस्थान को प्राप्त कर चुके हैं, कर रहे हैं और आगे प्राप्त करेंगे; उन सब जीवों के अध्यवसाय-स्थानों की संख्या लोकाकाश के असंख्यात प्रदेशों के बराबर है। क्योंकि इस गुणस्थान की स्थिति अन्तर्मुहूर्त्त प्रमाण है और अन्तर्मुहूर्त्त के असंख्यात समय होते हैं। उनमें से केवल प्रथम समयवर्ती तीनों कालों के जीवों के अध्यवसाय भी लोकाकाश के असंख्यात प्रदेशों के बराबर हैं। इस प्रकार दूसरे, तीसरे आदि समयवर्ती त्रैकालिक जीवों के अध्यवसाय भी गणना में लोकाकाश के असंख्यात प्रदेशों के बराबर ही हैं। असंख्यात संख्या के असंख्यात प्रकार हैं। अतः एक एक समयवर्ती त्रैकालिक जीवों के अध्यवसायों की संख्या और सब समयों में वर्तमान त्रैकालिक जीवों के अध्यवसायों की संख्या, सामान्यतः ये दोनों संख्याएँ एक सी अर्थात् असंख्यात हैं, फिर भी ये दोनों असंख्यात संख्या में परस्पर भिन्न हैं।

इस आठवें गुणस्थान में प्रत्येक समयवर्ती त्रैकालिक जीव अनन्त और उनके अध्यवसायों के असंख्यात होने का कारण यह है कि समान समयवर्ती अनेक जीवों के अध्यवसाय यद्यपि आपस में पृथक् पृथक् (न्यूनाधिक शुद्धिवाले) होते हैं; तथापि सम समयवर्ती बहुत से जीवों के अध्यवसाय तुल्य शुद्धिवाले होने से अलग अलग नहीं माने जाते। प्रत्येक समय के असंख्यात अध्यवसायों में से जो अध्यवसाय कम शुद्धि वाले होते हैं; वे जघन्य और जो अध्यवसाय अन्य सभी अध्यवसायों की अपेक्षा से अधिक शुद्धिवाले होते हैं, वे उत्कृष्ट कहलाते हैं। इन दोनों के बीच जो असंख्यात अध्यवसाय हैं; वे मध्यम कहलाते हैं।

प्रथम वर्ग के जघन्य अध्यवसायों की शुद्धि की अपेक्षा अंतिम वर्ग के उत्कृष्ट अध्यवसायों की शुद्धि अनन्तगुणी अधिक मानी जाती है और मध्य के सब वर्गों में पूर्व पूर्व वर्ग के अध्यवसायों की अपेक्षा उत्तरोत्तर वर्ग के अध्यवसाय विशेष शुद्ध माने जाते हैं। उन्हें सामान्यतः इस प्रकार समझना चाहिये कि सम समयवर्ती अध्यवसाय एक दूसरे से - १. अनन्त भाग अधिक शुद्ध, २. असंख्यात भाग अधिक शुद्ध, ३. संख्यात भाग अधिक शुद्ध, ४. संख्यात गुण अधिक शुद्ध, ५. असंख्यात गुण अधिक शुद्ध या ६. अनन्तगुण अधिक शुद्ध होते हैं। इस प्रकार अधिक शुद्धि के इन अनन्त भाग शुद्ध आदि छह प्रकारों को षट्स्थान कहते हैं।

इसी प्रकार उत्कृष्ट की अपेक्षा हीन षट्स्थान होते हैं। उनके नाम इस प्रकार हैं- १. अनन्त भाग हीन, २. असंख्यात भाग हीन, ३. संख्यात भाग हीन, ४. संख्यात गुण हीन, ५. असंख्यात गुण हीन और ६. अनन्तगुण हीन।

इस प्रकार शुद्धिकरण के क्रम में प्रथम समय के अध्यवसायों की अपेक्षा दूसरे समय के अध्यवसाय भिन्न ही होते हैं तथा प्रथम समय के जघन्य अध्यवसायों से प्रथम समय के उत्कृष्ट अध्यवसाय अनन्त गुणे विशुद्ध होते हैं और प्रथम समय के उत्कृष्ट अध्यवसायों से दूसरे समय के जघन्य अध्यवसाय भी अनन्त गुणे विशुद्ध होते हैं। इस प्रकार अंतिम समय तक पूर्व पूर्व समय के अध्यवसायों से उत्तर उत्तर समय के अध्यवसाय भिन्न भिन्न समझने चाहिये और प्रत्येक समय के जघन्य अध्यवसाय से उस समय के उत्कृष्ट अध्यवसाय अनन्तगुणे विशुद्ध तथा पूर्व पूर्व के समय के उत्कृष्ट अध्यवसायों की अपेक्षा उत्तर उत्तर समय के जघन्य अध्यवसाय भी अनन्तगुणे विशुद्ध होते हैं।

आठवें गुणस्थान का समय जघन्य से एक समय और उत्कृष्ट से अन्तर्मुहूर्त प्रमाण है।

९. अनिवृत्ति बादर गुणस्थान

यहाँ अनन्तानुबंधी आदि तीन कषाय चतुष्क तो उपशान्त या क्षय हो जाते हैं; किन्तु संज्वलन कषाय चतुष्क की पूरी निवृत्ति नहीं होने से इस गुणस्थान का पूरा नाम अनिवृत्ति बादर संपराय गुणस्थान है। अथवा दृष्टश्रुत या मुक्त विषयों का अभाव होने से प्रस्तुत गुणस्थान में अध्यवसायों की विषयाभिमुखता नहीं होती। भाव पुनः विषयों की ओर उन्मुख नही होते। इस प्रकार भावों, अध्यवसायों की अनिवृत्ति के कारण इस गुणस्थान का नाम अनिवृत्ति बादर गुणस्थान भी है। अनिवृत्ति का अर्थ है अभेद। अतः इस गुणस्थान में समसमयवर्ती जीवों के परिणामों में समानता ही होने से और भिन्नता न होने से यह सदृश परिणाम विशुद्धि का गुणस्थान है।

पूर्ववर्ती गुणस्थानों की अपेक्षा उत्तरवर्ती गुणस्थानों में कषायों का अंश न्यून होता जाता है। जैसे जैसे कषाय का अंश कम होता जाता है; वैसे वैसे परिणामों की विशुद्धि बढ़ती जाती है। इस गुणस्थान में होनेवाले परिणामों के द्वारा आयु कर्म के सिवाय शेष सात कर्मों की गुणश्रेणिनिर्जरा, गुणसंक्रमण, स्थितिघात और अनुभाग खंडन होता है। इस गुणस्थान में उत्तरोत्तर स्थितिबंध इतना कम होता जाता है कि इसके अंतिम समय में पहुँचने पर कर्मों की जो जघन्य स्थिति बतलायी गयी है; उस प्रकार की स्थिति का बंध होने लगता है। कर्मों की सता का भी अत्यधिक परिमाण

में ह्रास होता है। प्रति समय कर्मप्रदेशों की निर्जरा भी असंख्यात-गुणी बढ़ जाती है।

इस गुणस्थान की जघन्य और उत्कृष्ट स्थिति अन्तर्मुहूर्त प्रमाण है और एक अन्तर्मुहूर्त के जितने समय होते हैं; उतने ही अध्यवसाय स्थान इस गुणस्थान के हैं। क्योंकि इस गुणस्थान में जो जीव समसमयवर्ती होते हैं; उन सब के अध्यवसाय एक से-तुल्य शुद्धिवाले होते हैं। इसी प्रकार दूसरे, तीसरे आदि अन्तिम समय तक तुल्य समय में वर्त्तमान त्रैकालिक जीवों के अध्यवसाय भी समान ही होते हैं और समान अध्यवसायों को एक ही अध्यवसाय स्थान मान लिया जाता है।

इस गुणस्थान का जितना काल है, उतने ही उसके परिणाम हैं। इसलिए प्रत्येक समय में एक ही परिणाम होता है। अतएव यहाँ पर भिन्न समयवर्ती परिणामों में सर्वथा विसदृशता और एक समयवर्ती परिणामों में सदृशता ही होती है। तथा इन परिणामों के द्वारा कर्मों का विशेष क्षय होता है।

सारांश यह है कि नौवें गुणस्थान के अध्यवसायों के इतने ही वर्ग हो सकते हैं, जितने कि इस गुणस्थान के समय हैं। एक एक वर्ग में चाहे त्रैकालिक अनन्त जीवों के अध्यवसायों की अनन्त शक्तियाँ शामिल हों; परन्तु उस उस प्रत्येक वर्ग का अध्यवसाय-स्थल एक ही होता है। क्योंकि प्रत्येक वर्ग के सभी अध्यवसाय शुद्धि में समान नहीं होते; लेकिन प्रथम समय के अध्यवसाय-स्थान प्रथम वर्गीय अध्यवसायों से, दूसरे समय के अध्यवसाय स्थान दूसरे वर्ग के अध्यवसायों से अनन्तगुणे विशुद्ध होते हैं। इसी प्रकार दूसरे, तीसरे चौथे आदि नौवें गुणस्थान के अंतिम समय तक पूर्व पूर्व समय के अध्यवसाय से उत्तर उत्तर समय के अध्यवसाय स्थान अनन्तगुणे विशुद्ध समझने चाहिये।

नौवें गुणस्थान को प्राप्त करनेवाले जीव दो प्रकार के होते हैं-उपशमक और क्षपक। जो चारित्र मोहनीय कर्म का उपशमन करते हैं, वे उपशमक हैं और जो चारित्र मोहनीय कर्म का क्षपण (क्षय) करते हैं, वे क्षपक कहलाते हैं। मोहनीय कर्म का उपशमन या क्षपण करते करते वे अन्य अनेक कर्मों का भी उपशमन या क्षपण करते हैं। इस उपशमन और क्षपण को क्रमशः उपशम श्रेणी और क्षपकश्रेणी कहते हैं। उनका वर्णन आगे यथासम्भव किया जा रहा है।

आठवें और नौवें गुणस्थान में अन्तर

यद्यपि आठवें और नौवें गुणस्थान में अध्यवसायों में विशुद्धि होती रहती है; फिर भी इन दोनों की अपनी अपनी विशेषताएँ हैं। जैसे कि आठवें गुणस्थान में समसमयवर्ती त्रैकालिक अनन्त जीवों के अध्यवसाय शुद्धि के तरतम भाव से

असंख्यात वर्गों में विभाजित किये जाते हैं; किन्तु नौवें गुणस्थान में समसमयवर्ती त्रैकालिक अनन्त जीवों के अध्यवसायों का समान शुद्धि के कारण एक ही वर्ग हो सकता है। पूर्व पूर्व गुणस्थान की अपेक्षा उत्तर उत्तर गुणस्थान में कषाय के अंश बहुत कम होते जाते हैं और कषाय की न्यूनता के अनुसार जीवों के परिणामों की विशुद्धि बढ़ती जाती है। आठवें गुणस्थान की अपेक्षा नौवें गुणस्थान में विशुद्धि इतनी अधिक हो जाती है कि उसके अध्यवसायों की भिन्नताएँ आठवें गुणस्थान के अध्यवसायों की भिन्नताओं से बहुत कम हो जाती हैं।

१०. सूक्ष्म संपराय गुणस्थान

संपराय का अर्थ है लोभ। यहाँ संज्वलन लोभ कषाय के सूक्ष्म खंडों का उदय रहता है। इसीलिए इस गुणस्थान का सूक्ष्म-संपराय गुणस्थान यह सार्थक नामकरण किया गया है। जिस प्रकार धुले हुए गुलाबी रंग के कपड़े में लालिमा सुर्खी की सूक्ष्म झीनी सी आभा रह जाती है; उसी प्रकार इस गुणस्थानवर्ती जीव संज्वलन लोभ के सूक्ष्म खंडों का वेदन करता है।[१]

इस गुणस्थानवर्ती जीव भी उपशम और क्षपक श्रेणीवाले - दोनों प्रकार के होते हैं। संज्वलन लोभ के सिवाय चारित्र मोहनीय कर्म की दूसरी ऐसी कोई प्रकृति ही नहीं होती; जिसका उपशमन या क्षपण न हुआ हो। अतः उपशमक लोभ कषाय का उपशमन और क्षपक लोभ कषाय का क्षपण करते हैं।

सूक्ष्म लोभ का वेदन करने वाला चाहे उपशम श्रेणी अथवा क्षपक श्रेणीपर आरोहण करनेवाला हो; वह यथाख्यात चारित्र से-पूर्ण स्वरूप स्थिरता से कुछ ही न्यून रहता है। अर्थात् सूक्ष्म लोभ का उदय होने से यथाख्यात चारित्र के प्रकट होने में कुछ कमी रहती है।[२]

इस गुणस्थान की जघन्य एक समय और उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त्त तक स्थिति है।

---

१. (क) लोभः संज्वलनः सूक्ष्मः, शमं यत्र प्रपद्यते।
क्षयं वा संयतः सूक्ष्मः, साम्परायः स कथ्यते॥
कौसुम्भोन्तर्गतो रागो, यथा वस्त्रे तिष्ठते।
सूक्ष्म लोभ गुणे लोभः, शोध्यमानस्तथा तनुः॥ - सं. पंच संग्रह १/४३, ४४

(ख) गोम्मटसार जीवकांड ५९

२. अणुलोहं वेदंतो, जीवो उवसामगो व खवगो वा।
सो सुहुम संपराओ, जह खादे जुणणओ किंचि॥ - गोम्मटसार जीवकांड ६

११. उपशान्तमोह गुणस्थान

कषाय और राग (माया-लोभ) के उपशान्त (उदय नहीं) होने पर भी छद्म अर्थात् शेष घातीकर्म शेष रहते हैं। अतः इस गुणस्थान को उपशान्तकषाय छद्मस्थ वीतराग गुणस्थान भी कहते हैं। शरद ऋतु में होनेवाले सरोवर के जल की तरह मोहनीय कर्म के उपशम से उत्पन्न होनेवाले निर्मल परिणाम इस जीव के होते हैं। अर्थात् मोहनीय कर्म की सत्ता तो है; परन्तु उसका उदय नहीं होता। मोहकर्म के उपशान्त हो जाने से इस गुणस्थान में वीतरागता तो होती है; किन्तु ज्ञान, दर्शन आदि आत्मगुणों को आवृत्त करनेवाले कर्म विद्यमान रहते हैं। इस कारण वीतरागता होने पर भी वह अल्पज्ञ-छद्मस्थ है।

दसवें गुणस्थान के अन्त में सूक्ष्म लोभ का उपशमन होते ही जीव इस गुणस्थान को प्राप्त करता है। जिस तरह गंदे पानी में कतकफल या फिटकड़ी आदि डालने से उसका मल नीचे बैठ जाता है और स्वच्छ पानी ऊपर आ जाता है; वैसे ही इस गुणस्थान में शुक्लध्यान से मोहनीय कर्म को अन्तर्मुहूर्त के लिए उपशान्त कर दिया जाता है। इस कारण जीव के परिणामों में एकदम वीतरागता, निर्मलता और पवित्रता आ जाती है। इसी कारण इसे उपशान्तमोह या उपशान्तकषाय भी कहते हैं।[१]

यह गुणस्थान उपशम श्रेणी का अन्तिम स्थान है। अतः इस गुणस्थान में विद्यमान जीव आगे के गुणस्थानों को प्राप्त करने में समर्थ नहीं होता। क्योंकि आगे के गुणस्थान वही प्राप्त कर सकता है; जो क्षपक श्रेणी पर आरोहण करता है और क्षपक श्रेणी के बिना मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती। परन्तु ग्यारहवें गुणस्थानवर्ती जीव तो नियम से उपशम श्रेणी पर आरोहण करनेवाला होता है; अतः यह जीव ग्यारहवें गुणस्थान से अवश्य गिरता है।

इस गुणस्थान की कालमर्यादा जघन्य एक समय और उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त प्रमाण है। यदि गुणस्थान का समय पूरा होने के पहले कोई जीव भव (आयु) के क्षय से गिरता है; तो वह अनुत्तर विमान में उत्पन्न होता है और उस समय देवों के पाँचवाँ आदि अन्य गुणस्थान संभव न होने से चौथे ही गुणस्थान को प्राप्त करता है। और इस गुणस्थान में उन सब प्रकृतियों के बंध, उदय आदि को प्रारंभ कर देता है, जितनी प्रकृतियों के बंध आदि की संभावना इस गुणस्थान में है।

---

१. (क) अधो मले यथा नीते, कतके नाम्भोऽस्तु निर्मलम्।
उपशिष्टात्तथा शान्त, मोहो ध्यानेन मोहने॥ - *सं. पंच संग्रह १/४७*

(ख) गोम्मटसार जीवकांड ६१

परन्तु भवायु के शेष रहते हुए गुणस्थान का समय पूरा हो जाने पर जो जीव अवरोहण करता है; वह पतन के समय आरोहण क्रम के अनुसार गुणस्थान को प्राप्त करता है और उस उस गुणस्थान के योग्य कर्म प्रकृतियों का बंध, उदय, उदीरणा करना प्रारंभ कर देता है। अर्थात् अवरोहण के समय आरोहण क्रम के अनुसार तत् तत् गुणस्थान की प्रकृतियों का बंध आदि करता है और गुणस्थान का काल समाप्त हो जाने पर गिरनेवाला कोई जीव छठे गुणस्थान, कोई पाँचवें गुणस्थान, कोई चौथे और कोई तीसरे दूसरे गुणस्थान में होते हुए पहले तक आ जाता है।

१२. क्षीणमोह गुणस्थान

मोहनीय कर्म का सर्वथा क्षय होने के पश्चात् ही यह गुणस्थान प्राप्त होता है। इस भूमिका में मोहनीय कर्म का सर्वथा क्षय हो जाता है। उसकी सत्ता भी नहीं रहती। इस कारण इसका क्षीणमोह यह सार्थक नाम है। इस गुणस्थानवर्ती जीव के भाव स्फटिक मणि के निर्मल पात्र में रखे हुए जल के समान निर्मल होते हैं। इस गुणस्थान को प्राप्त करनेवाला जीव नीचे नहीं गिरता। उसका पतन नहीं होता। मोहनीय कर्म का सर्वथा क्षय हो जाने से वीतरागता प्राप्त होने पर भी तीन छद्म-घातीकर्म ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अंतराय अभी विद्यमान होने से इस गुणस्थान का पूरा नाम क्षीणकषाय वीतराग छद्मस्थ है।

इस गुणस्थान की जघन्य और उत्कृष्ट कालस्थिति अन्तर्मुहूर्त प्रमाण है और क्षपक श्रेणीवाले जीव ही इस गुणस्थान को प्राप्त करते हैं।

१३. सयोगीकेवली गुणस्थान

जो चारों घाती कर्मों (ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय) का क्षय करके केवलज्ञान और केवलदर्शन आदि को प्राप्त कर चुके हैं; जिससे पदार्थ को जानने देखने में इन्द्रिय, आलोक आदि निमित्तों की अपेक्षा नहीं रखते; किन्तु समस्त चराचर तत्त्वों को हस्तामलकवत् देखने, जानने लगते हैं और योग से सहित हैं एवं जिनमें आत्मवीर्य, शक्ति, उत्साह, पराक्रम प्रकट हुआ है तथा जिनमें शरीर आदि की प्रवृत्ति शेष है; वे सयोगी केवली हैं।[१] उन्हें केवलज्ञानी, केवली, जिन, जिनेन्द्र या जिनेश्वर भी कहा जाता है। सयोगी केवली में यदि कोई तीर्थंकर हो; तो वे तीर्थ की स्थापना करते हैं और देशना दे कर तीर्थ प्रवर्त्तन करते हैं। केवली भगवान सयोगी अवस्था में जघन्य से अन्तर्मुहूर्त्त और उत्कृष्ट से कुछ कम करोड़ पूर्व वर्ष तक रहते हैं।

---

१. घातिकर्मक्षये लब्ध्वा, नव केवल लब्धयः।
येनासौ विश्वतत्त्वज्ञः, सयोगः केवली विभुः॥ - सं. पंचसंग्रह १/४२

मन, वचन और काय इन तीनों साधनों से योग की प्रवृत्ति होती है; अतः योग के भी अपने साधन के अनुसार मनयोग, वचनयोग और काययोग ये तीन भेद होते हैं। केवली भगवान को मनोयोग का उपयोग किसी को मन से उत्तर देने में करना पड़ता है। जैसे कि जिस समय कोई मनःपर्यवज्ञानी अथवा अनुत्तर विमानवासी देव शब्द द्वारा न पूछ कर मन द्वारा प्रश्न आदि पूछते हैं; तब केवलज्ञानी उनके प्रश्न का उत्तर मन से ही देते हैं। धर्मोपदेश देने के लिए वचन योग का तथा हलन-चलन आदि क्रिया में काययोग का उपयोग केवलज्ञानी करते हैं।

१४. अयोगीकेवली गुणस्थान

जो केवली भगवान योगों से रहित हैं; वे अयोगीकेवली कहलाते हैं और उनका स्वरूप-विशेष अयोगीकेवली गुणस्थान है। अर्थात् जब सयोगी केवली मन, वचन और काया के योगों का निरोध कर योग रहित हो कर शुद्ध आत्मस्वरूप को प्राप्त कर लेते हैं; तब उन्हें अयोगीकेवली और उनके स्वरूपविशेष को अयोगी केवली गुणस्थान कहते हैं।[१]

यह गुणस्थान चारित्र-विकास और स्वरूप-स्थिरता की चरम अवस्था है। इस गुणस्थान में (अ, इ, उ, ऋ, लृ) इन पाँच ह्रस्व स्वरों के उच्चारण में जितना समय लगता है; उतने समय में आत्मा उत्कृष्ट शुक्लध्यान द्वारा सुमेरु पर्वत सदृश स्थिति को प्राप्त कर के अन्त में देहत्याग करके सिद्धावस्था को प्राप्त करती है। उस अवस्था को परमात्मपद, स्वरूप, सिद्ध, मुक्ति, निर्वाण, निर्गुण, ब्रह्मस्थिति, अपुनरावृत्ति, अपुनर्भवस्थान और मोक्ष आदि नामों द्वारा भी जाना जाता है।

इस गुणस्थान में मोक्ष प्राप्त करने की प्रक्रिया प्रारंभ होती है। यह मोक्ष का प्रवेशद्वार है और तीनों योगों का निरोध करने से अयोगी अवस्था प्राप्त होती है। केवली भगवान सयोगी अवस्था में अपनी आयु के अनुसार रहते हैं। परन्तु जिन केवली भगवान के शेष रहे चारों अघाती कर्मों में से आयु कर्म की स्थिति व पुद्गल परमाणुओं की अपेक्षा वेदनीय, नाम और गोत्र इन कर्मों की स्थिति और पुद्गल परमाणु अधिक होते हैं; वे समुद्घात करते हैं। इसे केवली-समुद्घात कहते हैं। समुद्घात के द्वारा वे आयुकर्म की स्थिति एवं पुद्गल परमाणुओं के बराबर वेदनीय, नाम और गोत्र कर्म की स्थिति व पुद्गल परमाणुओं को कर लेते हैं। जिन केवलज्ञानियों के

---

१. (क) प्रदाह्य घातिकर्माणि, शुक्लध्यान कृशानुना।
अयोगो याति शैलेशो, मोक्षलक्ष्मीं निरास्रवः॥ - सं. पंचसंग्रह १/५०

(ख) गोम्मटसार जीवकांड ६५

वेदनीय आदि तीनों अघाती कर्मों की स्थिति और पुद्गल परमाणु आयु कर्म के बराबर हैं; उन्हें समुद्घात करने की आवश्यकता नहीं होने से वे समुद्घात नहीं करते।[१]

जब केवली भगवान के आयु कर्म के क्षय होने का समय आता है; तब वे योगों का निरुन्धन कर इस गुणस्थान में प्रवेश करते हैं। सभी केवलज्ञानी सयोगी अवस्था के अन्त में एक ऐसे ध्यान के लिए योगों का निरोध करते हैं; जो परम निर्जरा का कारण है, लेश्यारहित है और अत्यन्त स्थिरतारूप है। योगनिरोध का क्रम इस प्रकार है -

सर्व प्रथम सर्वज्ञ केवली भगवान बादर काययोग से बादर मनोयोग और बादर वचनयोग को रोकते हैं। अनन्तर सूक्ष्म काययोग से बादर काययोग का और फिर उस सूक्ष्म काययोग से क्रमशः सूक्ष्म मनोयोग एवं सूक्ष्म वचनयोग का निरोध करते हैं। अन्त में सूक्ष्म क्रिया निवृत्ति शुक्ल ध्यान से अपने शरीर के मुख, उदर आदि पोले भाग को पूर्ण करते हुए शरीर के तीसरे भाग प्रमाण आत्मप्रदेशों का संकोच करते हैं। जिससे उस दो तृतीयांश भाग शरीर में उनके आत्मप्रदेश घनरूप हो जाते हैं। और इसके बाद वे अयोगी केवली भगवान समुच्छिन्न क्रिया प्रतिपाति शुक्लध्यान को प्राप्त करते हैं और पाँच ह्रस्वाक्षर के उच्चारण करने जितने समय का शैलेशीकरण करने के द्वारा चारों अघाती कर्मों का सर्वथा क्षय करके एक समय मात्र में ऋजुगति से ऊर्ध्वगमन कर लोक के अग्रभाग में स्थित मोक्षधाम सिद्धिक्षेत्र को प्राप्त कर लेते हैं।[२]

ये लोक के अग्रभाग में विराजमान परमात्मा सिद्ध भगवन्त ज्ञानावरणादि द्रव्य और मिथ्यात्वादि भाव कर्मों से रहित अनन्तसुखरूपी अमृत का अनुभव करानेवाली शान्ति सहित, नवीन कर्मबंध के कारणभूत मिथ्यादर्शनादि मैल से रहित, ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य, अव्याबाधत्व, अवगाहनत्व, सूक्ष्मत्व और अगुरुलघुत्व इन आठ गुणों से सहित, नित्य और कृतकृत्य हैं। उन्हें अब कुछ भी करना शेष नहीं रहा। वे परमपुरुषार्थ की सिद्धि कर चुके हैं।

सिद्ध जीवों के ऊर्ध्वगमन व लोकाग्र-स्थिति का कारण

जीव और पुद्गल स्वभावतः गतिशील द्रव्य हैं। लेकिन दोनों में अन्तर इतना ही है कि पुद्गल स्वभाव से अधोगतिशील है और जीव स्वभाव से ऊर्ध्वगतिशील है। जब जीव गति न करे अथवा नीचे या तिरछी दिशा में गति करे; तब ऐसा समझना

---

१. प्रज्ञापना पत्र ६०१-१

२. विशेषावश्यक भाष्य ३०५९ - ६४, ६८, ६९, ८२, ८९

चाहिये कि प्रतिबंधक द्रव्य के संग के कारण या बंधन के कारण ही ऐसा होता है। ऐसा द्रव्य या बंधन का कारण कर्म है। जब कर्म-संग छूट जाता है; तब कोई प्रतिबंधक नहीं रहता।अतः मुक्त जीव अपने स्वभावानुसार ऊर्ध्वगति करता है। जैसे कि मिट्टी के लेपों से युक्त तुम्बा लेपों के हट जाने पर अपने स्वभावानुसार जल के तल से ऊपर की ओर चला जाता है और जल की ऊपरी सतह पर स्थिर हो जाता है; उसी प्रकार कर्ममल के हट जाने से शुद्ध आत्मा भी स्वभावानुसार ऊर्ध्वगति करके ऊर्ध्वलोक के अग्रभाग तक गति करके वहाँ स्थित हो जाती है।[१] शुद्ध आत्मा के लोक के अग्रभाग में स्थित होने और ऊर्ध्वगति लोक के अन्त के आगे न होने का कारण गति के निमित्तभूत धर्मास्तिकाय का अभाव है। इस कारण मुक्त जीव लोकान्त तक ही गति करते हैं।

गुणस्थानों की शाश्वतता आदि

पूर्वोक्त मिथ्यात्वादि अयोगी-केवली पर्यन्त चौदह गुणस्थानों में १,४,५,६ और १३ ये पाँच गुणस्थान लोक में शाश्वत हैं।अर्थात् ये सदा रहते हैं और शेष गुणस्थान अशाश्वत हैं। परभव में जाते समय जीव के पहला, दूसरा और चौथा से तीन गुणस्थान रहते हैं। तीसरा, बारहवाँ और तेरहवाँ ये तीन गुणस्थान अमर हैं अर्थात् इनमें जीव का मरण नहीं होता। आदि के तीन तथा पाँचवाँ और ग्यारहवाँ ये पाँच गुणस्थान तीर्थंकर प्राप्त नहीं करते। चौथे से ले कर आठवें गुणस्थान तक पाँच गुणस्थानों में ही जीव के तीर्थंकर गोत्र का बंध होता है। बारहवाँ, तेरहवाँ और चौदहवाँ ये तीन गुणस्थान अप्रतिपाती हैं अर्थात् इन तीन गुणस्थानवर्ती जीवों का पतन नहीं होता। ये आने के बाद नहीं जाते।

कर्मक्षय की तरतमता

गुणस्थानों के वर्णन से यह स्पष्ट हो जाता है कि कर्मबंध के कारण जीव जन्म मरणरूप संसार में परिभ्रमण करता है और जब कर्मबंध और उसके हेतुओं का अभाव एवं पूर्वबद्ध कर्मों की निर्जरा हो जाती है; तब कर्मों का आत्यंतिक क्षय होता है और कर्मबंध का सर्वथा क्षय ही मोक्ष है। संसारी जीवों के नवीन कर्मों का बंध और पूर्वबद्ध कर्मों की निर्जरा होते रहने का क्रम चलता रहता है। जिससे आत्म स्वरूप की प्राप्ति नहीं हो पाती। लेकिन कर्मों की निर्जरा के साथ साथ कर्मबंध एवं उसके हेतुओं का अभाव होते जाने से जीव आत्मोपलब्धि की ओर बढ़ते हुए अनन्त ज्ञान दर्शन आदिरूप आत्म-स्वरूप को प्राप्त कर लेता है।

---

१. तदनन्तरं गच्छत्यालोकान्तात्। - *तत्वार्थ सूत्र १० /*

कर्मों की निर्जरा सम्यक्त्व की प्राप्ति से प्रारंभ हो कर सर्वज्ञ केवली-अवस्था में पूर्ण होती है और क्रमशः पूर्व पूर्व की अपेक्षा उत्तरोत्तर परिणामों में विशुद्धि सविशेष होती है। अतः पूर्व पूर्व की अपेक्षा उत्तरोत्तर अवस्थाओं में परिमाणात्मक विशुद्धता से क्रमशः कर्मनिर्जरा असंख्यातगुणी बढ़ती जाती है और बढ़ते बढ़ते अन्त में सर्वज्ञावस्था में निर्जरा का प्रमाण सबसे अधिक हो जाता है। कर्म-निर्जरा के इस प्रस्तुत तर-तम भाव में सब से कम निर्जरा सम्यग्दृष्टि की और सब से अधिक सर्वज्ञ की होती है। कर्म-निर्जरा के इस बढ़ते क्रम की अवस्थाओं के नाम क्रमशः इस प्रकार हैं -

सम्यग्दृष्टि, श्रावक, विरत, अनन्तानुबंधी वियोजक, दर्शनमोहक्षपक, मोहोपशमक, उपशान्तमोह क्षपक, क्षीणमोह और जिन अनुक्रम से असंख्येय गुण निर्जरा-वाले होते हैं; लेकिन पूर्व पूर्व की अपेक्षा उत्तरोत्तर समय कम लगता है। अर्थात् सम्यग्दृष्टि के कर्मनिर्जरा में जितना समय लगता है; उसकी अपेक्षा देशविरत श्रावक को कर्म निर्जरा में संख्यातगुणा कम समय लगता है। इसी प्रकार विरत आदि आगे आगे की अवस्थाओं के लिए समझना चाहिये।[१]

गुणस्थानों में बंधादि योग्य प्रकृतियों की संख्या

कर्मविचार के सन्दर्भ में बंधयोग्य १२०, उदय और उदीरणायोग्य १२२ और सत्ता योग्य १४८ प्रकृतियाँ मानी गयी हैं। गुणस्थानों में उनके बंधादि का विवरण इस प्रकार है-

बंध प्रकृतियाँ

बंध योग्य एक सौ बीस प्रकृतियों में से तीर्थंकर, आहारक और अंगोपांग, नामकर्म की इन तीन प्रकृतियों को छोड़ कर शेष एक सौ सतरह प्रकृतियों का प्रथम गुणस्थान में बंध होता है। अनन्तर दूसरे से चौदहवें गुणस्थान तक बंध योग्य प्रकृतियों की संख्या क्रमशः इस प्रकार है - १०१, ७४, ७७, ६७, ६३, ५८/५९,

---

१. (क) सम्यग्दृष्टि श्रावक विरतानन्त वियोजक दर्शनमोह क्षपकोपशमकोपशान्त मोहक्षपक क्षीणमोह जिना क्रमशोऽसंख्येयगुणनिर्जराः।

- तत्त्वार्थ सूत्र ९/४७

(ख) सम्मत्तुप्पत्तीए, सावय विरदे अणंत कम्मंसे।
दंसणमोहक्खवगे, कसाय उवसामगे य उवसंते॥
खवगे य खीण मोहे, जिणे सुदव्वा असंखगुणिदकमा।
तव्विवरीया काला, संखेज्ज गुणक्कम्म होंति। - *गोम्मटसार जीवकांड ६६, ६७*

५८, २२, १७, १, १, १ और चौदहवें गुणस्थान में किसी भी प्रकृति का बंध नहीं होता।

उदय प्रकृतियाँ

उदय योग्य एक सौ बाईस प्रकृतियों में से पहले से चौदहवें गुणस्थान तक उदय प्रकृतियों की संख्या क्रमशः इस प्रकार है - ११७, १११[1], १००, १०४, ८७, ८१, ७६, ७२, ६६, ६०, ५९, ५७, ४२, १२।

उदीरणा प्रकृतियाँ

उदय की तरह उदीरणा प्रकृतियाँ भी १२२ हैं। पहले से ले कर छठे गुणस्थान तक उदय और उदीरणा प्रकृतियाँ एक समान हैं। सातवें से ले कर तेरहवें गुणस्थान तक प्रत्येक गुणस्थान में उदय की अपेक्षा उदीरणा में नीचे लिखी तीन प्रकृतियाँ कम हैं- साता वेदनीय, असातावेदनीय और मनुष्यायु।

उदयाधिकार में बताया गया है कि छठे गुणस्थान में ८१ प्रकृतियों का उदय होता है। उनमें से निद्रा, प्रचलाप्रचला, स्त्यानर्द्धि, आहारक शरीर और आहारक अंगोपांग इन पाँच प्रकृतियों का उदय विच्छेद सातवें गुणस्थान में हो जाता है, इसलिए सातवें गुणस्थान में इनका उदय न होने से ७६ प्रकृतियाँ उदय योग्य हैं। किन्तु छठे गुणस्थान के अन्त में उदीरणा आठ प्रकृतियों की होती है। पूर्वोक्त पाँच और साता वेदनीय, असाता वेदनीय और मनुष्यायु इन तीन प्रकृतियों की उदीरणा आगे भी किसी गुणस्थान में नहीं होती। इसलिए तेरहवें गुणस्थान तक प्रत्येक गुणस्थान में तीन प्रकृतियाँ कम हो जाती हैं।

चौदहवें गुणस्थान में किसी भी प्रकृति की उदीरणा नहीं होती; क्योंकि उदीरणा होने में योग की अपेक्षा है और उसका चौदहवें गुणस्थान में निरोध हो जाता है।

इस प्रकार पहले से लेकर छठे गुणस्थान तक उदीरणा प्रकृतियाँ उदय के समान जानना चाहिये और सातवें से लेकर तेरहवें गुणस्थान तक उदीरणा प्रकृतियों की संख्या क्रमशः इस प्रकार है - ७३, ६९, ६३, ५७, ५६, ५४ और ३९। चौदहवाँ गुणस्थान उदीरणा रहित है।

सत्ता प्रकृतियाँ

सत्ता में १४८ प्रकृतियाँ मानी जाती हैं। पहले और चौथे से लेकर ग्यारहवें गुणस्थान तक सभी १४८ प्रकृतियों की सत्ता मानी जाती है। दूसरे और तीसरे

---

१. यह कार्मग्रंथिक अभिप्राय है। सिद्धान्त के मतानुसार १०९ प्रकृतियों का दूसरे गुणस्थान में उदय होता है, एकेन्द्रिय और स्थावर प्रकृति के सिवाय।

गुणस्थान में तीर्थंकर नाम कर्म की सत्ता न होने से दोनों में १४७ प्रकृतियों की सत्ता होती है। क्षायोपशमिक और औपशमिक सम्यक्त्वी अचरम शरीरी[१] जीवों के चौथे से लेकर ग्यारहवें गुणस्थान तक १४८ प्रकृतियों की तथा चरम शरीरी[२] जीवों के चौथे से लेकर सातवें गुणस्थान तक १४५ प्रकृतियों की सत्ता होती है।

अनन्तानुबंधी की विसंयोजना नहीं करनेवाला उपशमश्रेणी का प्रारंभक नहीं हो सकता तथा नरक और तिर्यंच आयु को बाँध कर जीव उपशमश्रेणी को प्राप्त नहीं कर सकता। इन दो सिद्धान्तों के अनुसार आठवें से लेकर ग्यारहवें गुणस्थान तक १४२ प्रकृतियों की सत्ता होती है।

क्षपक (चरमशरीरी-जिन्हें क्षायिक सम्यक्त्व नहीं हुआ है) जीवों के १४५ कर्म-प्रकृतियों की सत्ता होती है; परन्तु क्षपक जीवों में जो क्षायिक सम्यक्त्व वाले हैं; उनके अनन्तानुबंधीचतुष्क और दर्शनमोहत्रिक कुल सात तथा वर्तमान मनुष्यायु के सिवाय शेष तीन आयु का भी क्षय होने से १३८ प्रकृतियों की सत्ता कही गयी है।

क्षायिक सम्यक्त्वी अचरम शरीरी जीव के चौथे से आठवें गुणस्थान तक १४१ प्रकृतियों की सत्ता होती है तथा चरम शरीरी जीवों के चौथे से लेकर नौवें गुणस्थान के प्रथम भाग तक १३८ तथा शेष रहे दूसरे से लेकर नौवें भाग तक क्रमशः १२२, ११४, ११३, ११२, १०६, १०५, १०४ और १०३ प्रकृतियों की सत्ता होती है। दसवें गुणस्थान में १०२ प्रकृतियों की सत्ता होती है और इस गुणस्थान के अन्तिम समय में संज्वलन लोभ का अभाव हो जाने से बारहवें गुणस्थान के द्विचरम समय पर्यन्त १०१ प्रकृतियों की और अंतिम समय में ९९ प्रकृतियों की सत्ता रह जाती है।

तेरहवें गुणस्थान में तथा चौदहवें गुणस्थान के द्विचरम समय पर्यन्त ८५ प्रकृतियों की सत्ता रहती है और चौदहवें गुणस्थान के अन्त में १३ या १२ प्रकृतियों की सत्ता रहती है। चौदहवें गुणस्थान के अन्तिम समय में इनका भी विच्छेद हो जाने पर आत्मा निष्कर्म हो कर मुक्त हो जाती है।

प्रत्येक गुणस्थान में बंध, उदय, उदीरणा और सत्ता प्रकृतियों का विशेष विवरण परिशिष्ट में देखिये।

---

१. जो जीव वर्तमान जन्म में क्षपकश्रेणी नहीं कर सकते, वे अचरम शरीरी हैं।

२. वर्तमान जन्म में क्षपकश्रेणी करने वाले क्षपक या चरमशरीरी कहे जाते हैं।

गुणस्थान और वैदिक भूमिकाएँ -

पूर्व में यह संकेत किया गया है कि सभी आस्तिकवादी दर्शनों को आध्यात्मिक विकास इष्ट एवं अभिप्रेत है। वैदिक दर्शन भी प्रायः आस्तिकवादी है। अतः जैन दर्शन की तरह वैदिक परंपरा में भी आत्म विकास के संबंध में विचार किया गया है। विशेषतया योगवासिष्ठ, पातंजल योग आदि ग्रंथों में आत्मा की भूमिकाओं के बारे में कुछ अधिक वर्णन किया गया है। वर्णनशैली की भिन्नता होने पर भी वस्तुत्व के विषय में प्रयोजनभूत दृष्टि की अपेक्षा से भेद नहीं के बराबर है।

जैन ग्रंथों में मिथ्यादृष्टि या बहिरात्मा के नाम से अज्ञानी जीव का जो लक्षण बतलाया है कि अनात्मा अर्थात् आत्मभिन्न जड़तत्त्व में जो आत्मबुद्धि करता है; वह मिथ्यादृष्टि या बहिरात्मा है;[१] वही लक्षण योगवासिष्ठ[२] तथा पातंजल योगसूत्र[३] में भी अज्ञानी जीव का है। जैसे जैन ग्रंथों में मिथ्यात्वमोह का संसारवृद्धि और दुःख रूप फल वर्णित है;[४] वैसे ही वही बात योगवासिष्ठ[५] में अज्ञान के फल रूप में कही गयी है। योगवासिष्ठ में अविद्या से तृष्णा और तृष्णा से दुःख का अनुभव तथा विद्या से अविद्या का नाश[६] यह क्रम जैसा वर्णित है, वैसा ही क्रम जैन शास्त्रों में मिथ्याज्ञान और सम्यग्ज्ञान के निरूपण द्वारा यथा प्रसंग वर्णित किया गया है। योगवासिष्ठ में जो अविद्या का विद्या से और विद्या का विचार से नाश बताया है;[७]

---

१. आत्मधिया समुपात्तकायादिः कीर्त्यतेऽत्र बहिरात्मा। - *योगशास्त्र प्रकाश १२*

२. यस्याज्ञानात्मनो ज्ञस्य, देह एवात्मभावना।
उदितेति रुषैवाक्षरिपवो ऽमि एवात्मभावना ॥- *योगवासिष्ठ निर्वाण प्रकरण पूर्वार्ध सर्ग ६*

३. (क) अनित्याशुचि दुःखानात्मसु नित्यशुचि - सुखात्मख्यातिरविद्या
- *पातंजल योगदर्शन साधना पादसूत्र ५*

(ख) अविद्या मोह अनात्मन्यात्मभिमान इति।-पातंजल योगदर्शन भोजदेव वृत्ति पृष्ठ १४१

४. विकल्प चणकैरात्मा, पीतमोहासवो ह्ययम्।
भवोच्च तालमुत्ताल, प्रपंचमधितिष्ठति ॥ - *ज्ञानसार मोहाष्टक ५*

५. अज्ञानात्प्रसृता यस्मात्-जगत्पर्ण परंपरा।
यस्मिंस्तिष्ठन्ति राजन्ते विशन्ति विलसन्ति च ॥ - *योगवासिष्ठ निर्वाण प्रकरण सर्ग ६/५३*

६. जन्म पर्णादिना रन्ध्रा, विनाशच्छिद्रचञ्चुका।
भोगा भोगरसा पूर्णा, विचारैक घुणक्षता ॥ -*योगवासिष्ठ निर्वाण प्रकरण सर्ग ८/११*

७. योगवासिष्ठ निर्वाण प्रकरण सर्ग ९/२३, २४

वह जैन शास्त्रों में माने हुये मतिज्ञान आदि क्षायोपशमिक ज्ञान से मिथ्याज्ञान के नाश और क्षायिकज्ञान से क्षायोपशमिक ज्ञान के नाश के समान है।

जैन शास्त्रों में मुख्यतया मोह को ही बंध का-संसार का कारण-हेतु माना है; वैसे ही योगवासिष्ठ[१] में भी रूपान्तर से वही बात कही गयी है। जैन शास्त्रों में जैसे ग्रंथिभेद का वर्णन है; वैसे ही योगवासिष्ठ[२] में भी है। योगवासिष्ठ में स्वरूपस्थिति को ज्ञानी का और स्वरूपभ्रंश को अज्ञानी का लक्षण माना गया है;[३] तो जैन शास्त्रों में भी सम्यग्दृष्टि का-सम्यगज्ञान का और मिथ्यादृष्टि का क्रमशः वही स्वरूप बताया गया है।

योगवासिष्ठ में सम्यग्ज्ञान का जो लक्षण है;[४] वह जैन शास्त्रों के अनुकूल है। जैनदर्शन में सम्यग्दर्शन की प्राप्ति स्वभाव और बाह्य निमित्त इन दो प्रकारों से बतलायी है। योगवासिष्ठ में भी ज्ञान प्राप्ति[५] का वैसा ही क्रम सूचित किया गया है। इसी प्रकार के जैन दर्शन के अन्य विचारों के अनुरूप और दूसरे विचार भी योगवासिष्ठ में देखने को मिलते हैं; जो तुलनात्मक दृष्टि से मननीय हैं।

जैन दर्शन में आत्म विकास के क्रम को बतलाने के लिए जैसे चौदह गुणस्थान माने गये हैं; वैसे ही योगवासिष्ठ में भी चौदह भूमिकाओं का बड़ा रुचिकर वर्णन है। उनमें सात अज्ञान की और सात ज्ञान की भूमिकाएँ हैं;[६] जो जैन परिभाषा के

---

१. अविद्या संसृतिर्बन्धो, माया मोहो महत्तमः।
कल्पिता नीति नामानि, यस्या सकलवेदिषिः ॥- *योगवासिष्ठ उत्पत्ति प्रकरण सर्ग १/२०*

२. ज्ञाप्तिर्हि ग्रंथिविच्छेदस्तस्मिन् सति हि मुक्तता।
मृगतृष्णाम्बु बुद्ध्यादि, शान्तिमात्रात्मकस्त्वसौ ॥-*योगवासिष्ठ उत्पत्ति प्रकरण सर्ग ११८/२३*

३. स्वरूपावस्थितिर्मुक्तिस्तद्भ्रंशोऽहंत्व वेदनम्।
एतत् संक्षेपतः प्रोक्तं, तज्ज्ञत्वाज्ञत्व लक्षणम् ॥- *योगवासिष्ठ उत्पत्ति प्रकरण सर्ग ११७/५*

४. अनाद्यनन्तावभासात्मा, परमात्मेह विद्यते।
इत्येको निश्चयः स्फारः, सम्यग्ज्ञानं विदुर्बुधाः ॥- *योगवासिष्ठ उपशम प्रकरण सर्ग ७९/२*

५. एकस्तावद् गुरुप्रोक्ताद्दनुष्ठानाच्छनैः शनैः।
जन्मना जन्मभिर्वापि, सिद्धिः समुदाहृतः ॥
द्वितीयस्त्वात्मनैवाशु, किंचिद् च्युत्पन्नचेतसा।
भवति ज्ञानसम्प्राप्तिराकाशफलपातवत् ॥ - *योगवासिष्ठ उपशम प्रकरण सर्ग ७/३, ४*

६. अज्ञान भूः सप्तपदा, ज्ञभूः सप्तपदैव हि।
पदान्तराण्यसंख्यानि भवन्त्यन्यान्य यैतयोः ॥ - *योगवासिष्ठ उत्पत्ति प्रकरण सर्ग ११७/२*

अनुसार क्रमशः मिथ्यात्व की और सम्यक्त्व की सूचक हैं। अज्ञान की सात और ज्ञान की सात भूमिकाओं के नाम इस प्रकार हैं -

अज्ञान की सात भूमिकाएँ-बीजजागृत, जागृत, महाजागृत, जागृतस्वप्न, स्वप्न, स्वप्नजागृत और सुषुप्तक।[१]

ज्ञान की सात भूमिकाएँ-शुभेच्छा, विचारणा, तनुमानसा, सत्वापत्ति, असंसक्ति, परार्थाभाविनी और तुर्यागा।[२]

कुल मिलाकर ये चौदह भूमिकाएँ हैं; जिनका एक रूप क्रमशः इस प्रकार है-

१. **बीजजागृत** - जागरण के आदि में मायावश चैतन्य से प्राणधारण आदि क्रिया रूप उपाधि से भविष्य में होनेवाले चित्त, जीव आदि नाम शब्दों और उनके अर्थों का भाजनरूप तथा जागृत का बीजभूत जो प्रथम चेतन है; उसे बीजजागृत कहते हैं।[३] अर्थात् इस भूमिका में जागृति की योग्यता बीजरूप में रहती है। इसे वनस्पति आदि शुद्ध निकाय के जीवों में मान सकते हैं।

२. **जागृत** - बीजजागृति के बाद 'मैं और मेरा' (अहं और मम) ऐसी जो प्रतीती होती है; उसे जागृत कहते हैं।[४] अर्थात् इसमें अहंत्व एवं ममत्व बुद्धि अल्पांश में जागृत होने से इसे जागृत भूमिका कहा गया है। कीड़े-मकोड़े, पशु-पक्षी आदि में यह भूमिका मान सकते हैं।

३. **महाजागृत**- ऐहिक या जन्मान्तरीय दृढ़ाभ्यास से दृढ़ता को प्राप्त जागृत प्रत्यय महाजागृत है।[५] अर्थात् इसमें ममत्व बुद्धि विशेष रूप से पुष्ट होने के कारण इसे महाजागृत कहते हैं। यह भूमिका देव और मानवसमूह में संभव मानी जा सकती है।

---

१. बीजजागृत्तथा जागृन्महाजागृत् तथैव च।
जागृतस्वप्नस्तथा स्वप्नः, स्वप्न जागृत्सुषुप्तकम्॥
इति सप्तविधो मोहः पुनरेव परस्परम्॥ - *योगवासिष्ठ उत्पत्ति प्रकरण सर्ग ११७/११, १२*

२. योगवासिष्ठ उत्पत्ति प्रकरण सर्ग ११८/५, ६

३. भविष्यच्चित्त जीवादि, नामशब्दार्थभाजनम्।
बीजरूपं स्थितं जागृद्, बीजजागृतदुच्यते॥- *योगवासिष्ठ उत्पत्ति प्रकरण सर्ग ११७/१४*

४. योगवासिष्ठ उत्पत्ति प्रकरण सर्ग ११७/१५, १६

५. अयं सो एहमिदं तन्मम, इति जन्मान्तरोदितः।
पीवरः प्रत्ययः प्रोक्तो महाजागृतदिति स्फुरन्॥
- *योगवासिष्ठ उत्पत्ति प्रकरण सर्ग ११७/१६, १७*

४. **जागृतस्वप्न** - जागते हुए भी भ्रम में पड़े रहना जागृतस्वप्न है।[१]

५. **स्वप्न** - निद्रा अवस्था में आये हुए स्वप्न का जागने के पश्चात् भी भान होना, अनुभव करना स्वप्नावस्था है।[२]

६. **स्वप्नजागृत** - जागने पर भी चिरकाल तक स्वप्न के स्थायित्व की कल्पना में डूबे रहना, उसे सत्य मानना स्वप्नजागृत है।[३] वर्षों तक प्रारंभ रहे स्वप्न का इसमें समावेश होता है। शरीरपात हो जाने पर भी यह चलता रहता है।

७. **सुषुप्तक**-जिसमें प्रगाढ़ अज्ञान के कारण जीव की जड़ जैसी स्थिति हो जाती है; उसे सुषुप्तक कहते हैं।[४]

अज्ञान की उक्त सात अवस्थाओं में से सुषुप्ति के सिवाय छह अवस्थाएँ कर्म फल की भोगभूमिरूप होने से कर्मज हैं। सुषुप्ति तो उद्भृत कर्मों का योग से क्षय होने पर, दूसरे कर्मों का अनुदय होने पर और मध्यकाल में भोग्य सकल स्थूलसूक्ष्म प्रपंच के विलीन हो जाने पर प्रपंच के बीज अज्ञान मात्र के शेष रहने से अज्ञानोपहित चैतन्य शेषरूप ही है; जो जीव की जड़ावस्था है। इस प्रकार की जड़ावस्था का ही अपर नाम सुषुप्ति है।

अज्ञान की सात भूमिकाओं का कथन करने के बाद अब ज्ञान की सात भूमिकाओं का स्वरूप बतलाते हैं -

८. **शुभेच्छा** - आत्मावलोकन की वैराग्य युक्त इच्छा को शुभेच्छा कहते हैं।[५]

९. **विचारणा** - शास्त्राभ्यास, गुरुजनों के संसर्ग तथा वैराग्य और अभ्यास पूर्वक प्रवृत्ति विचारणा कहलाती है।[६]

---

१. यज्जागृतो मनोराज्यं, जागृत स्वप्न स उच्यते।- *योगवासिष्ठ उत्पत्ति प्रकरण सर्ग ११७/१२*

२. वही २०

३. वही २१, २२

४. .....जड़ा जीवस्य या स्थिति। भविष्यद् दुःखबोधाद्या सौषुप्ती सोच्यते गतिः॥
- *योगवासिष्ठ उत्पत्ति प्रकरण सर्ग ११७/२२, २३*

५. वैराग्यपूर्वमिच्छेति शुभेच्छेत्युच्यते बुधैः - *योगवासिष्ठ उत्पत्ति प्रकरण सर्ग ११८/८*

६. वही ९

१०. **तनुमानसा**-शुभेच्छा और विचारणा के कारण इन्द्रियविषयों में अवसक्तता रूप जो तनुता (सविकल्प समाधिरूप सूक्ष्मता) होती है; वह तनुमानसा नामक भूमिका है।[१]

११. **सत्त्वापत्ति**- शुभेच्छा, विचारणा और तनुमानसा इन तीनों भूमिकाओं के अभ्यास से बाह्य विषयों में संस्कार न रहने के कारण चित्त में अत्यंत विरक्ति होने से माया, माया के कार्य और तीनों अवस्थाओं से शोधित सब के आधार, सत्पात्र रूप आत्मा में स्थित याने निर्विकल्प समाधिरूप जो स्थिति है, वह सत्वापत्ति है।[२]

१२. **असंसक्ति**-पूर्वोक्त चार ज्ञान-भूमिकाओं के अभ्यास से बाह्य और अभ्यन्तर विषयाकारों से और उनके संस्कारों से असंबंधरूप समाधि-परिणाम से चित्त में वृद्धि को प्राप्त हुआ निरतिशय आनन्द नित्य अपरोक्ष (प्रत्यक्ष) ब्रह्म भाव साक्षात्काररूप चमत्कार उत्पन्न होना अर्थात् अनासक्ति की प्रबलता से मन में निरतिशय आनन्द का प्रादुर्भाव होना असंसक्ति है।[३]

१३. **पदार्थाभाविनी** - पूर्वोक्त पाँच भूमिकाओं के अभ्यास से बाह्य, अभ्यन्तर सभी पर पदार्थों पर से इच्छाओं के नष्ट हो जाने पर आत्मस्वरूप में जो दृढ़ स्थिति होती है; उसे पदार्थाभाविनी अवस्था कहते हैं।[४]

१४. **तुर्यगा**-पूर्वोक्त छह भूमिकाओं के चिरकालीन अभ्यास से भेदभाव का नितान्त भान भूल जाने से एक मात्र स्वभाव में स्थिर हो जाना तुर्यगा अवस्था है। यह जीवनमुक्त जैसी अवस्था होती है। इसके बाद विदेहमुक्ति तुर्यातीत स्थिति है।[५]

---

१. विचारणा शुभेच्छाभ्यामिन्द्रियार्थेऽवसक्तता।
याऽत्र सा तनुता भावात् प्रोच्यते तनुमानसा॥ - *वही १०*

२. वही ११

३. दशा चतुष्ट्याभ्यां सादसंसंग फलेन च।
सूल सत्वचमत्कारात् प्रोक्ताऽसंसक्ति नामिका॥
- *योगवासिष्ठ उत्पत्ति प्रकरण सर्ग ११८/१२*

४. वही १३, १४

५. वही १५, १६

अज्ञान की भूमिकाओं में उत्तरोत्तर अज्ञान का प्राबल्य होने से उन्हें अविकास काल और ज्ञान की भूमिकाओं में क्रमशः ज्ञानविकास में वृद्धि होने से उन्हें विकास क्रम की श्रेणियाँ कह सकते हैं। ज्ञान की सातवीं भूमिका तुर्यगा में विकास पूर्णता को प्राप्त करता है और उसके बाद की स्थिति मोक्ष है। विकास की पूर्णता को प्राप्त स्थिति को जैन दृष्टि से अरिहंत और उसके बाद की तुर्यातीत स्थिति को सिद्धदशा कह सकते हैं।

गुणस्थान और चित्त की अवस्थाएँ -

आध्यात्मिक भूमिकाओं का मध्यम मार्ग की दृष्टि से जैन दर्शन में जैसे चौदह गुणस्थानों के रूप में वर्गीकरण है और संक्षेपदृष्टि से बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा इन तीन अवस्थाओं में वर्गीकरण किया गया है; वैसे ही योगदर्शन में चित्त की पाँच अवस्थाओं का वर्णन देखने में आता है। तुलनात्मक दृष्टि से उपयोगी होने से उनका यहाँ उल्लेख करते हैं।

चित्त की पाँच अवस्थाओं के नाम क्रमशः इस प्रकार हैं - मूढ़, क्षिप्त, विक्षिप्त, एकाग्र और निरुद्ध।[१]

१. **मूढ** - इस भूमिका में तमोगुण की प्रधानता होती है; जिससे कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य का भान भुला कर क्रोधादि के द्वारा यह भूमिका बुरे कार्यों से जोड़ती है। इस अवस्था में न तो सत्य को जानने की जिज्ञासा होती है और न ही धर्म के प्रति रुचि होती है। यदि रुचि होती भी है; तो धनसंग्रह करने की और प्राणियों को दुःख देने की ओर होती है और असत्य, चोरी आदि पाप-कर्मों में प्रवृत्ति होने की ओर होती है। सारांश यह है कि मूढ़वृत्ति वाले का जीवन अज्ञान में ही व्यतीत होता है। ऐसी अवस्था अविकसित बुद्धिवाले मनुष्यों एवं पशुओं में देखने को मिलती है।

२. **क्षिप्त** - इस अवस्था में रजोगुण की प्रधानता होती है। रजोगुण की प्रबलता से चित्त सदैव चंचल रहता है। यह क्षिप्तभूमि दैत्य दानवों की होती है। रजोगुण और तमोगुण का मिश्रण होने पर क्रूरता, कामांधता, लोभ आदि की प्रवृत्तियाँ वृद्धिगत होती हैं और सतोगुण का मिश्रण होने पर नैतिक प्रवृत्तियों में मन अनुरक्त रहता है। संसारासक्त मानव में इस अवस्था को माना जा सकता है।

---

१. (क) क्षिप्तं मूढं विक्षिप्तमेकाग्रं निरुद्धमिति चित्तभूमयः

- योगदर्शन व्यास भाष्य

(ख) योगदर्शन भोजदेववृत्ति पृष्ठ ८

३. **विक्षिप्त** - इस अवस्था में सतोगुण प्रधान होता है। रजोगुण और तमोगुण दबे हुए और गौण होते हैं। सत्त्व गुण की अधिकता की वृत्ति दुःख के साधनों को विशेषता से नष्ट करके सुख के साधनों में लगी रहती है। वह धार्मिक वृत्ति की ओर उन्मुख होती है; किन्तु रजोगुण के कारण चित्त विक्षिप्त बना रहता है।

४. **एकाग्र** - चित्त का प्रशस्त विषयों में एकाग्र होना, स्थिर रहना एकाग्र वृत्ति है। जब रजोगुण और तमोगुण का प्रभाव कम हो जाता है; तब चित्त की चंचलता को छोड़ कर मन किसी एक प्रशस्त विषय पर स्थिर हो जाता है और सुदीर्घ काल तक चिन्तन की धारा उसी प्रशस्त विषय पर केन्द्रित रहती है। विचार-शक्ति में उत्तरोत्तर सूक्ष्मता एवं प्रशस्तता बढ़ती जाती है। किसी वस्तु पर मन के केन्द्रित हो जाने से वह वस्तु उसके वशीभूत हो जाती है। इस स्थिति में ही योग की शक्ति अभिव्यक्त होती है। इस भूमि को संप्रज्ञान योग, सबीज समाधि भी कह सकते हैं।

५. **निरुद्ध**- चित्त की संपूर्ण वृत्तियों व संस्कारों का जिस अवस्था में लय हो जाता है; उसे निरुद्ध अवस्था कहते हैं। इस अवस्था को असंप्रज्ञान या निर्बीज समाधि भी कहते हैं। इसके प्राप्त होने पर साधक का चित्त के साथ संबंध टूट जाता है और वह अपनी शुद्ध अवस्था को प्राप्त कर लेता है।[१]

चित्त की उक्त पाँच अवस्थाओं में से मूढ़ और क्षिप्त इन दो अवस्थाओं में रजोगुण और तमोगुण का अत्यधिक प्रकर्ष रहता है। साधक निःश्रेयस प्राप्ति के लिए प्रयत्न ही नहीं कर पाता। इन अवस्थाओं में आध्यात्मिक विकास के लिए अवकाश ही नहीं रहता। विक्षिप्त अवस्था में जब सतोगुण की अधिकता होती है; तब साधक कभी कदाचित् सात्त्विक विषयों में प्रवृत्ति करने का प्रयत्न करता है; लेकिन रजोगुण और तमोगुण का भी अस्तित्व रहने से, समाधि में चित्त की अस्थिरता रहने से उसे योग की कोटि में स्थान नहीं दिया जा सकता। एकाग्र एवं निरुद्ध ये दो अवस्थाएँ सतोगुणवाली हैं। अतः इनके समय में ही जो समाधि होती है; वही योग सहायक है और तभी आध्यात्मिक उत्क्रान्ति का क्रम आरम्भ होता है। निरुद्ध अवस्था के अनन्तर आत्मा की जो स्थिति बनती है, वह मोक्ष है।

गुणस्थानों के साथ यदि इन अवस्थाओं की तुलना की जाये; तो यह कहा जा सकता है कि पहली दो अवस्थाएँ पहले मिथ्यात्व गुणस्थान की सूचक हैं। तीसरी विक्षिप्त अवस्था मिश्र गुणस्थान की सूचक है। चौथी अवस्था में आध्यात्मिक

---

१. तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्। - *पातंजल योगदर्शन १/३*

विकास किस क्रम से होता है, यह नहीं बताया गया है। इससे मात्र इतना ही संकेत मिलता है; कि सामान्य से चित्त की चार भूमिकाएँ हो सकती हैं। लेकिन इससे आत्मा के विकास की स्थिति का कुछ भी ज्ञान नहीं हो सकता। गुणस्थानों का संबंध आत्मा से है, चित्त से नहीं। अत: इन चित्तवृत्तियों की गुणस्थानों के साथ एक देश से तुलना हो सकती है, पूर्णत: नहीं। इनसे इतना संकेत अवश्य मिलता है कि वैदिक दर्शनों में आध्यात्मिक उत्क्रान्ति के संबंध में कुछ न कुछ विचार अवश्य किया गया है।

गुणस्थान और बौद्धमान्य अवस्थाएँ

यद्यपि सामान्य से बौद्ध दर्शन अनात्मवादी है; लेकिन उसने आत्मा के अस्तित्व को अस्वीकार नहीं किया है। उसने आत्मा की संसार व मुक्त आदि अवस्थाएँ मानी हैं। अत: उसमें आत्मा के विकास के संबंध में चिन्तन है और आत्मा के विकास के क्रम का वर्णन किया गया है।

बौद्ध ग्रंथों में स्वरूपोन्मुख होने की स्थिति से ले कर स्वरूप की पराकाष्ठा प्राप्त कर लेने की स्थिति का वर्णन है। यह वर्णन पाँच प्रकार के विभागों में विभाजित है-धर्मानुसारी, सोतापन्न,सकदागामी, अनागामी और अरहा। इनमें धर्मानुसारी वह कहलाता है, जो निर्वाणमार्ग के अभिमुख हो; किन्तु अभी तक प्राप्त नहीं हुआ हो। इसे जैन मान्यता के अनुसार मार्गानुसारी कह सकते हैं। जो आत्मा अविनियत, धर्मनियत और संबोधि-परायण हो; उसे सोतापन्न कहते हैं। सोतापन्न आत्मा सातवें जन्म में अवश्य निर्वाण प्राप्त करती है। सकदागामी वह है, जो एक ही बार जन्म ग्रहण करके मोक्ष जानेवाला हो। जो इस लोक में जन्म ग्रहण न करके सीधे ही मोक्ष जाने वाला हो; वह अनागामी है और जो संपूर्ण-समस्त आस्रवों का क्षय करके कृत कार्य हो जाता है, उसे अरहा कहते हैं। प्रकारान्तर से इनके नामों का उल्लेख इस प्रकार भी देखने को मिलता है। पुथुज्जन, सोतापन्न, सकदागामी औपपातिक और अरहा। पुथुज्जन का अर्थ सामान्य मानव है। इसके दो भेद हैं – अंध पुथुज्जन और कल्याणपुथुज्जन। इन दोनों को क्रमश: जैन दर्शन के अनुसार मिथ्यात्व और अविरत सम्यग्दृष्टि की भूमिका मान सकते हैं।

जैन शास्त्रों में जैसे बंध की कारण कर्म प्रकृतियों का वर्णन है, वैसे ही बौद्ध दर्शन में निम्नलिखित दस संयोजनाएँ बतायी गयी हैं -

सक्काय, दिट्ठि विचिकिच्छा, सीलव्वत पराभास, कामराग, परीध, रूपराग, अरूपरता, मान, उदघच्च और अविज्जा।[१] आदि की पाँच औद्भागीय और शेष पाँच उड्ढभागीय कही जाती हैं।

---

१. मराठी में भाषान्तरित दीघनिकाय पृष्ठ १७५ की टिप्पणी

इनमें से प्रथम तीन संयोजनाओं के क्षय होने पर सोतापन्न अवस्था प्राप्त होती है। पाँच औद्भागीय संयोजनाओं के नाश होने पर औपपातिक अनागामी अवस्था एवं दसों संयोजनाओं का नाश होने पर अरहा (अरिहंत, सयोगी केवली) अवस्था प्राप्त होती है। यह वर्णन जैन शास्त्रगत कर्मप्रकृतियों के क्षयक्रम से मिलता जुलता है।

सोतापन्न आदि चार अवस्थाएँ चौथे से लेकर चौदहवें गुणस्थान तक की भूमिकाओं के विचारों की प्रतिरूपक कहला सकती हैं। अथवा यों कह सकते हैं कि उक्त चार अवस्थाएँ चतुर्थ आदि गुणस्थानों की संक्षेप हैं।

बौद्ध दर्शन में बोधिसत्त्व का जो लक्षण है;[१] वह जैन दर्शन के सम्यग्दृष्टि के समान है। जो सम्यग्दृष्टि होता है; वह गार्हस्थिक आरंभ-समारंभ में लग कर भी तप्तलोह-पदन्यासवत् सकंप एवं पापभीरु होता है। यही रूप बौद्ध दर्शन में स्वीकार किया गया है कि बोधिसत्व शरीर मात्र से अवश्य सांसारिक प्रवृत्ति में पड़नेवाला होता है; किन्तु चित्तपाती (मन से लगनेवाला) नहीं होता।[२]

बौद्ध दर्शन मान्य उक्त आध्यात्मिक विकास की अवस्थाओं का सामान्यतः यह मन्तव्य है; कि पहली अवस्था में आध्यात्मिक विकासवाले और अविकासवाले दोनों प्रकार के जीव हो सकते हैं। जो विकास की ओर उन्मुख हैं; वे तो धर्मानुसारी (कल्याण पुथुज्जन) हैं और उसके पूर्व आत्माकी जो दशा है; उसे अंध पुथुजन्न कहते हैं। सोतापन्न आदि शेष अवस्थाएँ निश्चित रूप से विकास के क्रम की दर्शक हैं एवं अरहा अवस्था सशरीरी पूर्ण विकास की स्थिति को बतलाती है और उसके बाद निर्वाण होता है।

इस प्रकार यद्यपि बौद्ध दर्शन में आत्मविकास का वर्णन अवश्य लिया गया है; लेकिन उसमें गुणस्थानों के वर्णन की तरह क्रमबद्धता के दर्शन नहीं होते। इसलिए आंशिक तुलना हो सकती है।

गुणस्थान और आजीविक भूमिकाएँ -

आजीविक दर्शन का प्रवर्त्तक गोशालक माना जाता है। परन्तु उसके क्या विचार थे, क्या सिद्धान्त थे; आदि की जानकारी स्वतंत्र ग्रंथ उपलब्ध न होने से नहीं

---

१. कायपातिन एवेह, बोधिसत्वाः परोदितम्।
न चित्तपातिनस्तावदेतदभादि युक्तिमत्॥ - *योगबिन्दु २७१*

२. एवं च यत्परैरुक्तं, बोधिसत्वस्य लक्षणम्।
विचार्यमाणं सन्नीत्या, तदप्यत्रोपपद्यते॥
तप्तलोहपदन्यास, तुल्यावृत्तिः क्वचिद्यदि।
इत्युक्तेः कायपात्येव चित्तपाती न संस्मृतः॥ - *सम्यग्दृष्टि द्वात्रिंशिका १०, ११*

दी जा सकती। मज्झिमनिकाय में आजी... संप्रदाय के आठ ...पत बतलाये हैं- मन्द, खिड्डा, पदवीमंसा, उज्जुगत, सेख, खमण जिन और पन्न। इनका आध्यात्मिक दृष्टि से क्या आशय है; यह तो ग्रंथाभाव होने से प्रामाणिक रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता। परन्तु मज्झिमनिकाय की सुमंगलविलासिनी टीका में इनका वर्णन इस रूप में देखने को मिलता है -

मंद-जन्म दिन से लेकर सात दिन तक गर्भनिष्क्रमणजन्य दुःख के कारण मंद स्थिति।

खिड्डा - जो बालक दुर्गति से आ कर जन्म लेता है; वह बार बार रुदन करता है और सुगति से आनेवाला बालक सुगति का स्मरण कर पुनः पुनः हास्य करता है। इसे क्रीड़ाभूमिका कह सकते हैं।

पदवीमंसा - बालक का अवलंबन लेकर ... पैर रखना पदवीमंसा भूमिका है।

उज्जुगत- स्वतंत्र रीति से चलने की शक्ति प्राप्त होना उज्जुगत भूमिका है।

सेख - शैक्ष्य भूमिका। शिल्पकला आदि के अध्ययन का समय।

खमण - संन्यास ग्रहण करने की भूमिका।

जिन - आचार्य की उपासना कर के ज्ञान प्राप्त करने की भूमिका।

पन्न - प्रज्ञ। भिक्षु को स्वानुभूति में रमण करनेवाली निर्लोभवृत्ति की प्राप्ति हो जाना पन्न भूमिका है।

परन्तु यह वर्णन युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होता; क्योंकि इस व्याख्या में बालक से ले कर व्यावहारिक जीवन के दर्शन होते हैं। इन्हें आध्यात्मिक विकास की भूमिकाएँ नहीं कह सकते। फिर भी अविकास और विकास की दृष्टि से इनका वर्गीकरण किया जाय, तो आदि की तीन अविकास की और शेष पाँच विकास की सूचक अवश्य ... सकती है; पर वह आध्यात्मिक विकास से कुछ भी मेल नहीं खाता। ... इसकी ... के साथ तुलना करना बौद्धिक व्यायाम के अतिरिक्त कुछ भी नहीं कहा जायगा।

इस प्रकार हम देखते हैं कि आत्मविकास के इच्छुक ... ने अपने अपने ढंग से विकासक्रम का उल्लेख किया है। इसलिए यह तो कहा जा सकता है कि मोक्ष को स्वतंत्र पुरुषार्थ मान कर उसकी उपलब्धि सभी को इष्ट है; पर उसमें क्रमबद्ध धारा के दर्शन अवश्य नहीं होते। जैन दर्शन में इसकी सविस्तार चर्चा हुई है, जो गुणस्थान के रूप में पूर्व में बतायी गयी है।

परिशिष्ट - १

गुणस्थानों में बंध-निमित्तों का विवरण

कर्मबंध के मिथ्यात्व आदि पाँच सामान्य बंध हेतु हैं। इन हेतुओं के सद्भाव में कर्मबंध अवश्यंभावी है। लेकिन विच्छेद होते जाने से कर्म-प्रकृतियों के बंध में अल्पता आती जाती है।

संक्षेप में कषाय और योग ये दो बंधहेतु हैं और विस्तार से मिथ्यात्व आदि योगपर्यन्त पाँच। ये हेतु गुणस्थान-क्रमारोहण के दर्शक हैं। योग तो रूपी संसारी जीवों के होता है और यह क्रियात्मक शक्तिवाला है। मिथ्यात्व आदि शेष भावात्मक है। योगों के परिस्पंदन से कर्म वर्गणाएँ आकृष्ट हो कर कषायादिक भावों के निमित्त से आत्मा के साथ संश्लिष्ट हो जाती हैं और उदयकाल में विपाकवेदन कराती हैं।

यद्यपि योगशक्ति के तारतम्य से कर्मास्रव में न्यूनाधिकता होती है; लेकिन रसानुभव मिथ्यात्व, अविरत, प्रमाद और कषाय भावों पर निर्भर है। इनमें भी कषाय मुख्य हैं। जैसे जैसे कषायों में अन्तर आता जाता है, संक्लेशजन्य परिणामों में परिवर्तन होता है; वैसे वैसे कर्मबंध भी घटता है। इस दृष्टि से कषाय के अनेक भेद हो सकते हैं; लेकिन उनका सूक्ष्म संपराय (कषाय), अनिवृत्ति बादर कषाय और अपूर्व करण निवृत्तिसह-कृत बादर कषाय, अनन्तानुबंधी कषाय इन चार भेदों में समावेश किया जा सकता है। इस दृष्टि से कर्मबंध के निमित्त इस प्रकार हो सकते हैं -

१. योग, २. मिथ्यात्व, ३. अनन्तानुबंधी कषाय, ४. सहमत सम्यक् कृत संक्लेश परिणाम, ५. अप्रत्याख्यानावरण कषाय, ६. प्रत्याख्यानावरण कषाय, ७. प्रमत्तभाव, ८. अप्रमत्तभाव, ९. अपूर्वकरण बादर कषाय, १०. अनिवृत्ति बादर कषाय, ११. सूक्ष्म-संपराय। इन निमित्तों के सद्भाव में कितनी प्रकृतियों का बंध होता है, इसका विवरण गुणस्थानों के क्रम से इस प्रकार है —

गुणस्थान	मिथ्यात्व	अनन्तानुबंधी कषाय	सम्यक्त्वसहकृत संक्लेश	अप्रत्याख्यानावरण कषाय	प्रत्याख्यानावरण कषाय	प्रमाद	अप्रमाद	अपूर्वकरण बादर कषाय	अनिवृत्ति बादर कषाय	सूक्ष्म संपराय	योग
मिथ्यात्व	१६	२५	०	१०	४	७	०	३३	५	१६	१
सासादन	०	२५	०	१०	४	७	०	३३	५	१६	१
मिश्र	०	०	०	९	४	७	०	३३	५	१६	१
अविरति	०	०	१	१०	४	७	०	३३	५	१६	१
देशविरति	०	०	१	०	४	७	०	३३	५	१६	१
प्रमत्तसंयत	०	०	१	०	०	७	०	३३	५	१६	१
अप्रमत्तसंयत	०	०	१	०	०	०	२	३३	५	१६	१
अपूर्वकरण	०	०	१	०	०	०	२	३३	५	१६	१
अनिवृत्तिकरण	०	०	०	०	०	०	०	०	५	१६	१
सूक्ष्मसंपराय	०	०	०	०	०	०	०	०	०	१६	१
उपशान्तमोह	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	१
क्षीणमोह	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	१
सयोगी केवली	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	१
अयोगीकेवली	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०

इन निमित्तों के कुल गुणस्थान कितने हैं अर्थात् ये कितने गुणस्थानों तक रहते हैं, इसका विवरण इस प्रकार है—

मिथ्यात्व पहले गुणस्थान तक, अनन्तानुबंधी कषाय आदि के दो गुणस्थान तक, सम्यक्त्वसहकृत संक्लेश चौथे से आठवें गुणस्थान तक, अप्रत्याख्यानावरण कषाय आदि के चार गुणस्थान तक, प्रत्याख्यानावरण कषाय आदि के पाँच गुणस्थान तक, प्रमाद आदि छह गुणस्थान तक, अप्रमाद सातवें-आठवें गुणस्थान में, अपूर्व करण बादर कषाय आदि के आठ गुणस्थान तक, अनिवृत्ति बादर कषाय आदि के नौ गुणस्थान तक, सूक्ष्मसंपराय आदि के दस गुणस्थान तक और योग पहले से लेकर तेरहवें गुणस्थान तक रहता है। अतएव इन निमित्तों के सद्भाव से मिथ्यात्वादि अयोगी केवली पर्यन्त गुणस्थानों में बंधप्रकृतियों की कुल संख्या क्रमशः इस प्रकार है—११७, १०१, ७४, ७७, ६७, ६३, ५८, ५८, २२, १७, १, १, १, ०।

परिशिष्ट - २

गुणस्थानों में कर्म प्रकृतियों के बंध, उदय, उदीरणा, सत्ता का विवरणः

सामान्यतया किसी विशेष गुणस्थान व जीव की विवक्षा के बिना कथन ओघ प्ररूपणा कहलाता है। यहाँ कर्मप्रकृतियों के गुणस्थानों में बंध आदि का विवरण सामान्य अपेक्षा से प्रस्तुत करते हैं। बंध प्रकृतियाँ १२० उदय व उदीरणा १२२ सत्ता प्रकृतियां १४८।

बंध विवरणः -

ओघ मूलप्रकृति ८ उत्तर प्रकृति १२०, (१) ज्ञानावरण ५, (२) दर्शनावरण ९, (३) वेदनीय २, (४) मोहनीय २६, (५) आयु ४, (६) नाम ६७, (पिंड प्रकृतियाँ ३९, प्रत्येक प्रकृतियां ८, त्रसदशक १०, स्थावर दशक १० = ६७) (७) गोत्र २, (८) अन्तराय ५ = १२०

१) **मिथ्यात्व गुणस्थान**—मूल प्रकृति ८, उत्तर प्रकृति ११७

तीर्थंकर नामकर्म और आहारकद्विक (आहारक शरीर आहारक अंगोपांग नाम कर्म) का बंध नहीं होता।

२) **सास्वादन गुणस्थान**-मूल प्रकृति ८, उत्तर प्रकृति १०१

नरकत्रिक (नरकगति, नरकानुपूर्वी, नरकायु), जाति चतुष्क (एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय), स्थावरचतुष्क (स्थावर नाम, सूक्ष्म नाम, अपर्याप्त नाम, साधारण नाम), हुंडक संस्थान, सेवार्त्त संहनन, आतपनाम, नपुंसकवेद और मिथ्यात्व मोहनीय इन सोलह प्रकृतियों का मिथ्यात्व गुणस्थान के अन्त में बंधविच्छेद हो जाने से शेष १०१ प्रकृतियाँ बंध योग्य हैं।

३) **मिश्र गुणस्थान**—मूल प्रकृतियाँ ७ उत्तर प्रकृतियाँ ७४। तिर्यंच त्रिक (तिर्यंच गति, तिर्यंचानुपूर्वी, तिर्यंच आयु), स्त्यानर्द्धित्रिक (निद्रानिद्रा, प्रचलाप्रचला, स्त्यानर्द्धि), दुर्भग त्रिक (दुर्भगनाम, दुःस्वर नाम, अनादेय नाम), अनन्तानुबंधी चतुष्क (अनन्तानुबंधी क्रोध, मान, माया लोभ), मध्यम संस्थान चतुष्क (न्यग्रोध परिमंडल, वामन, सादि, कुब्ज) मध्यम संहनन चतुष्क (ऋषभनाराच नाराच, अर्धनाराच, कीलिका), नीचगोत्र, उद्योत नाम, अशुभविहायोगति नाम और स्त्रीवेद इन पच्चीस का बंध संभव

न होने से शेष दो आयु (मनुष्यायु-देवायु) कुल सत्ताईस प्रकृतियों का दूसरे गुणस्थान में बंध योग्य १०१ प्रकृतियों में से कम कर देने पर ७४ प्रकृतियाँ बंध योग्य हैं।

४) **अविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान**—मूल ८ उत्तर ७७-

मनुष्यायु, देवायु और तीर्थंकर नाम का बंध संभव होने से मिश्र गुणस्थान की [illegible] य ७४ प्रकृतियों में इन तीन को जोड़ने से ७७ प्रकृतियाँ बंध योग्य हैं। [illegible] गुणस्थानवर्ती जीव नरकायु का व देव-मनुष्यायु का एवं तिर्यंच व मनुष्य [illegible] यु का बंध कर सकते हैं।)

५) **देशविरत गुणस्थान**-मूल ८ उत्तर ६७

वज्रऋषभनाराचसंहनन, मनुष्यत्रिक (मनुष्यगति, मनुष्यानुपूर्वी, मनुष्यायु), अप्रत्याख्यानावरण कषाय चतुष्क (अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ), औदारिक द्विक (औदारिक शरीर, औदारिक अंगोपांग) कुल दस प्रकृतियों का बंध विच्छेद चतुर्थ गुणस्थान के अन्त समय में हो जाने से शेष ६७ प्रकृतियाँ बंध योग्य हैं।

६) **प्रमत्तविरत गुणस्थान**-मूल ८ उत्तर ६३

प्रत्याख्यानावरण कषाय चतुष्क (प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ) का बंधविच्छेद पाँचवें गुणस्थान के अन्त में हो जाने से ६७-४ = ६३ प्रकृतियाँ बंध योग्य हैं।

७) **अप्रमत्त विरत गुणस्थान** -मूल ८ या ७ उत्तर ५९ या ५८

छठे गुणस्थान के अन्त में अरति, शोक, अस्थिर नाम, अशुभ नाम, अयश कीर्ति नाम और असाता वेदनीय इन छह प्रकृतियों का बंध विच्छेद हो जाने से इन्हें छठे गुणस्थान की बंध योग्य ६३ प्रकृतियों में से कम करने पर शेष रही ५७ तथा इस गुणस्थान में आहारक शरीर और आहारक अंगोपांग का बंध संभव होने से इन दो प्रकृतियों को जोड़ने से ५७ + २ = ५९ प्रकृतियाँ बंध योग्य हैं। लेकिन जो जीव छठे गुणस्थान में देवायु का बंध प्रारंभ कर उस बंध को वहीं समाप्त करके सातवें गुणस्थान को प्राप्त करता है, उसके तो ५६ + २ = ५८ प्रकृतियों का बंध संभव है, परन्तु जो जीव छठे गुणस्थान में देवायु के बंध को प्रारंभ कर सातवें गुणस्थान में समाप्त करता है उसकी अपेक्षा से ५६ + २ + १ = ५९ प्रकृतियाँ बंध योग्य मानी जाती हैं।

८) **अपूर्वकरण गुणस्थान**-मूल ८ उत्तर ५८, ५९, २६

इस गुणस्थान में देवायु के बंध का प्रारंभ व समाप्ति नहीं होता। इस गुणस्थान के सात भाग होते हैं।

१. प्रथम भाग में ५८ कर्म प्रकृतियाँ बंध योग्य हैं।

२. प्रथम भाग के अन्त में निद्रा-प्रचला का बंध विच्छेद हो जाने से दूसरे से ले कर छठे भाग के अन्त तक ५८-२ = ५६ प्रकृतियाँ बंध योग्य हैं।

३. छठे भाग के अन्त में देवद्विक (देवगति, देवानुपूर्वी), पंचेन्द्रिय जाति, शुभ विहायोगति नाम, त्रसनवक (त्रस,बादर, पर्याप्त, प्रत्येक, स्थिर, शुभ, सुभग, सुस्वर और आदेय), वैक्रिय, आहारक, तैजस, कार्मण शरीर, वैक्रिय अंगोपांग, आहारक अंगोपांग, समचतुरस्र संस्थान, निर्माण, तीर्थंकर नाम, वर्ण-चतुष्क (वर्ण, गंध, रस, स्पर्श नाम), अगुरुलघु चतुष्क, (अगुरुलघु, उपघात, पराघात और उच्छ्वास) इन तीस प्रकृतियों का बंध-विच्छेद हो जाने से ये सातवें भाग में नहीं रहतीं। अतः आठवें गुणस्थान के सातवें भाग में २६ प्रकृतियाँ बंध योग्य हैं।

४. आठवें गुणस्थान के सातवें भाग के अन्त में हास्य, रति, भय और जुगुप्सा इन चार प्रकृतियों का भी बंध विच्छेद हो जाने से २६-४ = २२ प्रकृतियों का बंध नौवें गुणस्थान में संभव है।

९) **अनिवृत्ति बादर गुणस्थान**—मूल ७, उत्तर २२, २१, २०, १९, १८

इस गुणस्थान के पाँच भाग हैं और प्रारंभ में बाईस प्रकृतियाँ बंध योग्य हैं।

१. पहले भाग के अन्त में पुरुषवेद का विच्छेद होने से २१

२. दूसरे भाग के अन्त में संज्वलन क्रोध का विच्छेद होने से २०

३. तीसरे भाग के अन्त में संज्वलन मान का विच्छेद होने से १९.

४. चौथे भाग के अन्त में संज्वलन माया का विच्छेद होने से १८.

५. पाँचवे भाग के अन्त में लोभ का बंध नहीं होता। अतः दसवें गुणस्थान में शेष १७ प्रकृतियाँ बंध योग्य हैं।

१०) **सूक्ष्म-संपराय गुणस्थान**-मूल ६ उत्तर १७

दसवें गुणस्थान की बंध योग्य सतरह प्रकृतियों में से ज्ञानावरण ५, दर्शनावरण ४, अन्तराय ५ और उच्च गोत्र १ इन सोलह प्रकृतियों का अन्त में बंधविच्छेद हो जाने से आगे के गुणस्थानों में एक प्रकृति बंध योग्य है।

११) **उपशान्त मोह गुणस्थान**-मूल १, उत्तर १

इस गुणस्थान में सातावेदनीय का बंध होता है। इसकी स्थिति दो समय मात्र की होती है और इसके बंध का निमित्त योग है।

१२) **क्षीणमोह गुणस्थान**-मूल १, उत्तर १

इस गुणस्थान में भी साता वेदनीय का बंध होता है और इसके बंध का निमित्त योग है और स्थिति दो समय मात्र की है।

१३) **सयोगी केवली गुणस्थान**-मूल १, उत्तर १

इस गुणस्थान में भी साता वेदनीय का बंध होता है। इसकी स्थिति दो समय मात्र की होती है और इसके बंध का निमित्त योग है।

१४) **अयोगी केवली गुणस्थान** -मूल ०, उत्तर ०

इस गुणस्थान में बंध के कारणों का संपूर्ण अभाव हो जाने से अबन्धक दशा होती है।

उदय विवरण :-

सामान्य से उदययोग्य मूल प्रकृति ८ और उत्तर प्रकृतियाँ १२२ हैं। वे इस प्रकार हैं —

ज्ञानावरण ५, दर्शनावरण ९, वेदनीय २, मोहनीय २८, आयु ४, नाम ६७, गोत्र २ और अन्तराय ५ कुल १२२। मिश्र मोहनीय (सम्यग्मिथ्यात्व मोहनीय) और सम्यक्त्व मोहनीय इन दो प्रकृतियों का बंध नहीं होता, किन्तु जात्यन्तर परिणाम वाली होने से इनका उदय होता है। अतः मोहनीय की अट्ठाईस प्रकृतियां उदय योग्य गिनी गयी हैं।

१) **मिथ्यात्व गुणस्थान**- मूल ८ उत्तर ११७

मिश्र मोहनीय, सम्यक्त्व मोहनीय, आहारकद्विक और तीर्थंकर नाम इन पाँच प्रकृतियों का उदय न होने से इस गुणस्थान में पाँच प्रकृतियां न्यून होती है।

२) **सास्वादन गुणस्थान** -मूल ८ उत्तर १११

सूक्ष्मत्रिक (सूक्ष्म, साधारण, अपर्याप्त नाम) आतप नाम, मिथ्यात्व मोहनीय और नरकानुपूर्वी इन छह प्रकृतियों का उदय इस गुणस्थान में नहीं होता।

३) **मिश्र गुणस्थान**-मूल ८ उत्तर १००

अनन्तानुबंधीकषायचतुष्क, एकेन्द्रिय जाति, विकलेन्द्रियत्रिक (द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय) और आनुपूर्वीत्रिक (तिर्यंच-मनुष्य-देवानुपूर्वी) का उदय नहीं होता, किन्तु मिश्र मोहनीय का उदय होता है। अतः १११-११ = १०० प्रकृतियों का उदय संभव है।

४) **अविरत सम्यक्त्व गुणस्थान** -मूल ८ उत्तर १०४

सम्यक्त्व मोहनीय व आनुपूर्वीचतुष्क का उदय संभव है, किन्तु मिश्र मोहनीय का उदय नहीं होता। अतः १२२-७-१ = १०४ प्रकृतियों का उदय हो सकता है।

५) **देशविरत गुणस्थान**-मूल ८ उत्तर ८७

अप्रत्याख्यानावरण-कषायचतुष्क, मनुष्यानुपूर्वी, तिर्यंचानुपूर्वी, वैक्रियाष्टक (देवगति, देवानुपूर्वी, देवायु, नरकगति, नरकानुपूर्वी, नरकायु, वैक्रियशरीर, वैक्रिय अंगोपांग), दुर्भगत्रिक (दुर्भग, अनादेय, अयशः कीर्ति नाम) इन सतरह प्रकृतियों का उदय इस गुणस्थान में संभव न होने से १०४-१७ = ८७ प्रकृतियों का उदय होता है।

६) **प्रमतविरत गुणस्थान** -मूल ८ उत्तर ८१

तिर्यंचगति, तिर्यंचानुपूर्वी, नीचगोत्र, उद्योत नाम और प्रत्याख्यानावरण कषायचतुष्क इन आठ प्रकृतियों का उदय तो इस गुणस्थान में संभव नहीं है, किन्तु आहारकद्विक का उदय संभव होने से ८७-८ +२ =८१ प्रकृतियाँ उदय योग्य है।

७) **अप्रमत्तसंयत गुणस्थान** -मूल ८ उत्तर ७६

स्त्यानर्द्धित्रिक (निद्रानिद्रा, प्रचलाप्रचला व स्त्यानर्द्धि) व आहारक द्विक का अप्रमत अवस्था में उदय संभव नहीं होने से ८१-५ = ७६ प्रकृतियों का उदय संभव है।

(८) **अपूर्वकरण गुणस्थान** -मूल ८ उत्तर ७२

सम्यक्त्वमोहनीय, अर्धनाराच, कीलिका और सेवार्त्त संहनन इन चार प्रकृतियों का उदय विच्छेद सातवें गुणस्थान के अंतिम समय में हो जाने से इस गुणस्थान में इन चार का उदय न हो सकने से ७६-४ = ७२ प्रकृतियों का उदय इस गुणस्थान में संभव है।

(९) **अनिवृत्ति बादर गुणस्थान**- मूल ८-उत्तर ६६

हास्य, रति, अरति, शोक, भय और जुगुप्सा इन छह प्रकृतियों का उदय विच्छेद आठवें गुणस्थान के अंतिम समय में हो जाने से ७२-६ = ६६ प्रकृतियाँ इस गुणस्थान में उदय योग्य है।

(१०) **सूक्ष्म-संपराय गुणस्थान**-मूल ८ उत्तर ६०

स्त्रीवेद, पुरुषवेद, नपुंसकवेद, संज्वलन क्रोध-मान-माया इन छह प्रकृतियों का उदय इस गुणस्थान में [illegible] ६६-६ = ६० प्रकृतियां उदय

योग्य है। इन छह प्रकृतियों का उदय नौवें गुणस्थान के अंतिम समय तक ही होता है।

(यदि उपशम और क्षपक श्रेणियों में से किसी एक श्रेणी का प्रारंभक पुरुष है, तो पहले पुरुषवेद को, फिर स्त्रीवेद को और फिर नपुंसकवेद को रोकेगा और उसके बाद संज्वलनत्रिक को रोकेगा। यदि स्त्री प्रारंभक है, तो पहले स्त्रीवेद को, फिर पुरुष वेद को और फिर नपुंसकवेद के उदय को रोकेगा। यदि नपुंसक है, तो पहले नपुंसक वेद को, फिर स्त्रीवेद को और फिर पुरुषवेद के उदय को रोकेगा।)

११) **उपशान्तमोह गुणस्थान**-मूल ७ उत्तर ५९

संज्वलन लोभ का उदय दसवें गुणस्थान के अंतिम समय में विच्छिन्न हो जाने से इस गुणस्थान में ६०-१ = ५९ प्रकृतियाँ उदय योग्य है।

जिनके ऋषभनाराच व नाराच सहनन होता है, वे ही उपशम श्रेणी करते हैं।

१२) **क्षीणमोह गुणस्थान**-मूल ७ उदय ५७/५५

इस गुणस्थान में ऋषभनाराच व नाराच संहनन का उदय संभव नहीं है। अतः ५९-२ = ५७ प्रकृतियाँ उदय योग्य है तथा गुणस्थान के अन्त समय में निद्रा व प्रचला का भी उदय नहीं रहता, अतः ५७-२ = ५५ का उदय होता है। (क्षपकश्रेणी वज्रऋषभनाराच संहनन के बिना नहीं होती।)

१३) **सयोगी केवली गुणस्थान**-मूल ४ उत्तर ४२

ज्ञानावरण ५, दर्शनावरण ४ और अन्तराय ५ इन चौदह प्रकृतियों का उदय बारहवें गुणस्थान के अंतिम समय तक रहता है तथा इस गुणस्थान में तो तीर्थंकर नाम का उदय संभव है। अतः ५५-१४+१ = ४२ प्रकृतियाँ उदय योग्य हैं।

१४) **अयोगी केवली गुणस्थान**- मूल ४ उत्तर १२

औदारिकद्विक (औदारिक शरीर, औदारिक अंगोपांग) अस्थिरद्विक (अस्थिर नाम, अशुभ नाम), विहायोगतिद्विक (शुभ विहायोगति, अशुभ विहायोगति) प्रत्येक-त्रिक (प्रत्येक, शुभ, स्थिरनाम), संस्थान-षटक (समचतुरस्र, न्यग्रोध, सादि, वामन, कुब्ज, हुण्ड), अगुरुलघु-चतुष्क (अगुरुलघु, उपघात, पराघात, उच्छ्वास नाम) वर्ण चतुष्क, निर्माण नाम, तैजस, कार्मण शरीर, वज्रऋषभ नाराच संहनन, दुःस्वर, सुस्वर, साता या असाता में से अन्यतर, वेदनीय ये तीस प्रकृतियाँ तेरहवें गुणस्थान के अंतिम समय तक ही उदय योग्य हैं। अतः इनको ४२ में से घटाने पर जो बारह प्रकृतियाँ शेष रहती हैं, वे उदय योग्य हैं। चौदहवें गुणस्थान के अंतिम समय तक बारह प्रकृतियों के नाम इस प्रकार है-सुभग, आदेय, यशःकीर्ति नाम, साता-असाता में से

अन्यतर, वेदनीय कर्म, त्रस त्रिक (त्रस नाम, बादर नाम, पर्याप्त नाम), पंचेन्द्रिय जाति, मनुष्यायु, मनुष्यगति, तीर्थंकर नाम और उच्चगोत्र-१२)

उदीरणा विवरण:

ओघ, मूल प्रकृति ८ उत्तर प्रकृति १२२

१) **मिथ्यात्व गुणस्थान**-मूल ८ उत्तर १२२

मिश्र व सम्यक्त्वमोहनीय, आहारकद्विक व तीर्थंकर नाम की उदीरणा इस गुणस्थान में संभव नहीं है, अतः पाँच प्रकृतियाँ न्यून।

२) **सास्वादन गुणस्थान** -मूल ८ उत्तर १११

उदय के समान समझना चाहिये।

३) **मिश्र गुणस्थान**-मूल ८ उत्तर १००

उदयवत् बारह प्रकृतियों की उदीरणा तो संभव नहीं है, किन्तु मिश्र मोहनीय की उदीरणा संभव है।

४) **अविरत सम्यक्त्व गुणस्थान**-मूल ८ उत्तर १०४

मिश्र मोहनीय की उदीरणा संभव नहीं है। सम्यक्त्व मोहनीय व आनुपूर्वी चतुष्क की उदीरणा संभव है। अतः १०० + ५-१ = १०४।

५) **देशविरत गुणस्थान**-मूल ८ उत्तर ८७

उदयवत् सतरह प्रकृतियों की उदीरणा संभव है।

६) **प्रमत्तविरत गुणस्थान** -मूल ८ उत्तर ८१

उदयवत् संभव है।

७) **अप्रमत्त संयत गुणस्थान** - मूल ६ उत्तर ७३

वेदनीयद्विक, आहारकद्विक, स्त्यानर्द्धित्रिक, और मनुष्यायु इन आठ प्रकृतियों की छठे गुणस्थान के अंतिम समय में उदीरणा रुक जाने से ८१-८ = ७३ प्रकृतियों की उदीरणा संभव है।

(छठे गुणस्थान से आगे ऐसे अध्यवसाय नहीं होते, जिससे साता,असाता, वेदनीय और मनुष्यायु की उदीरणा हो सके। अतः उदय की अपेक्षा से ये तीन प्रकृतियाँ कम गिनी गयी हैं।

८) **अपूर्वकरण गुणस्थान**- मूल ६ उत्तर ६९

सम्यक्त्व मोहनीय, अर्धनाराच, कीलिका और सेवार्त्त संहनन इन चार प्रकृतियों की उदीरणा संभव न होने से ७३-४ = ६९।

९) **अनिवृत्ति बादर गुणस्थान** -मूल ६ उत्तर ६३

हास्य, रति, अरति, भय, शोक और जुगुप्सा इन छह प्रकृतियों की उदीरणा संभव नहीं है। अतः ६९-६ = ६३।

१०) **सूक्ष्मसंपराय गुणस्थान** -मूल ६ उत्तर ५७

स्त्रीवेद, पुरुषवेद, नपुंसकवेद और संज्वलन क्रोध मान-माया इन छह प्रकृतियों की उदीरणा संभव नहीं है। अतः ६३-६ = ५७।

११) **उपशान्तमोह गुणस्थान**-मूल ५ उत्तर ५६

संज्वलन लोभ की उदीरणा नहीं होती। अतः ५७-१ = ५६।

१२) **क्षीणमोह गुणस्थान**- मूल ५ उत्तर ५४/५२

ऋषभनाराच और नाराच संहनन क्षपक श्रेणी पर आरुढ़ होने वाले के नहीं होते। अतः ५६-२ = ५४। अन्त समय के आगे निद्रा और प्रचला की उदीरणा संभव नहीं है। अतः ५४-२ = ५२।

१३) **सयोगी केवली गुणस्थान**- मूल २ उत्तर ३९

ज्ञानावरण ५, दर्शनावरण ४ और अन्तराय ५ कुल चौदह प्रकृतियाँ इस गुणस्थान में नहीं होने से उदीरणा संभव नहीं है तथा तीर्थंकर नाम का उदय संभव होने से उसे जोड़ देने पर ५२-१४+१ = ३९ प्रकृतियों की उदीरणा संभव है।

१४) **अयोगी केवली गुणस्थान**- मूल ० उत्तर ०

इस गुणस्थान में किसी कर्म की उदीरणा नहीं होती।

सत्ता विवरण:—

ओघ, मूल प्रकृति ८, उत्तर प्रकृति १४८

ज्ञानावरण ५, दर्शनावरण ९, वेदनीय २, मोहनीय २८, आयु ४, नाम ९३ (पिंड प्रकृतियाँ ६५, प्रत्येक ८, त्रस दशक १०, स्थावर दशक १० = ९३), गोत्र २ और अन्तराय ५।

१) **मिथ्यात्व गुणस्थान** -मूल ८ उत्तर १४८

जिस जीव ने पहले नरकायु का बंध कर लिया हो और फिर क्षायोपशमिक सम्यक्त्व प्राप्त कर उसके बल से तीर्थंकर नाम कर्म का बंध कर लिया हो, वह जीव नरक में जाते समय सम्यक्त्व को त्याग कर मिथ्यात्व को अवश्य प्राप्त करता है, किन्तु तीर्थंकर नामकर्म की सत्ता तो उस गुणस्थान में है। अतः इस गुणस्थान में १४८ प्रकृतियों की सत्ता है। (योग्यता की अपेक्षा से)

२) **सास्वादन गुणस्थान**-मूल ८ उत्तर १४७

कोई भी जीव तीर्थंकर नाम का बंध कर सास्वादन गुणस्थान प्राप्त नहीं कर सकता। अतः दूसरे गुणस्थान में तीर्थंकर नाम कर्म की सत्ता नहीं होती। इस कारण १४७ प्रकृतियाँ मानी गयी हैं।

३) **मिश्र गुणस्थान**-मूल ८ उत्तर १४७

द्वितीय गुणस्थान के समान समझना चाहिए।

४) **अविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान**- मूल ८ उत्तर १४८, १४५, १४१, १४१, १३८

संभव सत्ता की अपेक्षा से यद्यपि किसी एक समय में किसी एक जीव को दो आयु से अधिक (भुज्यमान और बध्यमान) की सत्ता नहीं होती, परन्तु योग्य सामग्री मिलने पर जो कर्म विद्यमान नही हैं, उनकी भी बंधनसत्ता हो सकती है। अतः योग्यता की अपेक्षा से १४८ (औपशमिक, क्षायोपशमिक, सम्यक्त्वी, अचरम शरीरी की अपेक्षा से)।

क) चरमशरीरी (क्षपक) के तीन आयु की सत्ता न रहने से १४५ प्रकृतियों की सत्ता है।

ख) क्षायिक सम्यक्त्वी अचरम शरीरी के अनन्तानुबंधी चतुष्क व दर्शनत्रिक की सत्ता नहीं होती। अतः १४८-७ = १४१ प्रकृतियाँ।

ग) उपशम श्रेणी में विसंयोजना की अपेक्षा से १४८। अनन्तानुबंधी चतुष्क व दर्शनत्रिक के न्यून होने पर १४१ प्रकृतियाँ।

घ) चरम शरीरी की अपेक्षा से (क्षायिक सम्यक्त्वी के) अनन्तानुबंधी चतुष्क, दर्शन त्रिक और आयुत्रिक को कम करने पर १४८-१० = १३८ प्रकृतियों की सत्ता है।

५) **देशविरत गुणस्थान**- मूल ८ उत्तर १४८ १४५, १४१, १४१, १३८।

चतुर्थ गुणस्थान के सदृश संभव सत्ता की अपेक्षा से (योग्यता से) १४८

चतुर्थ गुणस्थान के सदृश क वत् १४५
चतुर्थ गुणस्थान के सदृश ख वत् १४१
चतुर्थ गुणस्थान के सदृश ग वत् १४१
चतुर्थ गुणस्थान के सदृश घ वत् १३८

६) **प्रमत्त-विरत गुणस्थान**-मूल ८ उत्तर १४८, १४५, १४१, १४१, १३८। अप्र
चतुर्थ गुणस्थान के सदृश संभव सत्ता की अपेक्षा से (योग्यता से) १४८ वे

चतुर्थ गुणस्थान के सदृश क वत् १४५
चतुर्थ गुणस्थान के सदृश ख वत् १४१
चतुर्थ गुणस्थान के सदृश ग वत् १४१
चतुर्थ गुणस्थान के सदृश घ वत् १३८

७) **अप्रमत्त-विरत गुणस्थान** -मूल ८ उत्तर १४८, १४५, १४१, १४१, १३८।

चतुर्थ गुणस्थान के सदृश संभव सत्ता की अपेक्षा से (योग्यता से) १४८

चतुर्थ गुणस्थान के सदृश क वत् १४५
चतुर्थ गुणस्थान के सदृश ख वत् १४१
चतुर्थ गुणस्थान के सदृश ग वत् १४१
चतुर्थ गुणस्थान के सदृश घ वत् १३८

८) **अपूर्वकरण गुणस्थान**- मूल ८ उत्तर १४८, १४२, १३९, १३८,

(क) संभव सत्ता की अपेक्षा से (योग्यता से) १४८ प्रकृतियाँ।

(ख) अनन्तानुबंधी चतुष्क व नरकायु तथा तिर्यंचायुवाला उपशमश्रेणी नहीं कर सकता, अतः उपशम श्रेणी वाले की अपेक्षा से १४२ प्रकृति।

ग) अनन्तानुबंधीचतुष्क, दर्शनत्रिक (विसंयोजना), नरक व तिर्यंचायु इन नौ प्रकृतियों को कम करने से १३९ प्रकृतियाँ।

(घ) चरम शरीरी की अपेक्षा से (क्षायिक सम्यक्त्वी) अनन्तानुबंधी चतुष्क, दर्शनत्रिक और आयुत्रिक को कम करने पर १४८-४-३-३ = १३८ प्रकृतियाँ।

९) **अनिवृत्तिकरण गुणस्थान** -मूल ८ उत्तर १४८ अन्तिम १०३

(क) संभव सत्ता की अपेक्षा से १४८

(ख) उपशम श्रेणी में अनन्तानुबंधीचतुष्क, नरकायु और तिर्यंचायु की सत्ता न होने से १४८-६ = १४२

(ग) उपशम श्रेणी में अनन्तानुबंधी चतुष्क और दर्शनत्रिक की विसंयोजना तथा नरक और तिर्यंचायु का अभाव होने से १४८-७-२ = १३९ प्रकृतियाँ।

क्षपक श्रेणी में

(घ) भाग १ में अनन्तानुबंधी चतुष्क, दर्शनत्रिक और आयुत्रिक की सत्ता न रहने से १४८-४-३-३ = १३८ प्रकृतियाँ।

भाग २ में स्थावर द्विक, तिर्यंचद्विक, नरकद्विक, आतप, उद्योत, स्त्यानर्द्धित्रिक, एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रियत्रिक और साधारण नाम कर्म की सत्ता नहीं रहती।
अतः १३८-१६ = १२२ प्रकृतियाँ।
भाग ३ में दूसरे भाग के अन्त में अप्रत्याख्यानावरण चतुष्क और प्रत्याख्यानावरण चतुष्क की सत्ता क्षय हो जाती है। अतः १२२-८ = ११४ प्रकृतियाँ।
भाग ४ में तीसरे भाग के अन्त में नपुंसक वेद का क्षय हो जाने से ११४-१ = ११३ प्रकृतियाँ।
भाग ५ में-चौथे भाग के अन्त में स्त्रीवेद का क्षय हो जाने से ११३-१ = ११२ प्रकृतियाँ।
भाग ६ में-पाँचवें भाग के अन्त में हास्य, रति, अरति, भय, शोक और जुगुप्सा का क्षय होने से ११२-६ = १०६ प्रकृतियाँ।
भाग ७ में-छठे भाग के अन्त समय में पुरुषवेद का क्षय होने से १०६-१ = १०५ प्रकृतियाँ।
भाग ८ में-सातवें भाग के अन्त में संज्वलन क्रोध का क्षय होने से १०४-१ = १०३ प्रकृतियाँ।
नौवें भाग के अन्त में संज्वलन माया का क्षय होने से १०२ प्रकृतियाँ, जो दसवें गुणस्थान में सत्ता योग्य हैं।

१०) **सूक्ष्म-संपराय गुणस्थान- मूल ८, उत्तर १४८ अंतिम १०२।**

संभव सत्ता की अपेक्षा से १४८ प्रकृतियाँ।

उपशम श्रेणी में अनन्तानुबंधीचतुष्क व नरकायु-तिर्यंचायु को कम करने से (विसंयोजना से) १४८-६ = १४२ प्रकृतियाँ।

उपशम श्रेणी में १३९ प्रकृतियाँ नौवे गुणस्थान तक।

क्षपक श्रेणी में १०२ प्रकृतियाँ। दसवें गुणस्थान के अंत समय में संज्वलन लोभ का क्षय होने से शेष रही १०१ प्रकृतियाँ जो बारहवें गुणस्थान के प्रथम समय में सत्ता योग्य हैं।

११) **उपशान्त-मोह-गुणस्थान -मूल ८ उत्तर १४८, १४२, १३८** संभव सत्ता की अपेक्षा से १४८ प्रकृतियाँ।

उपशम श्रेणी में अनन्तानुबंधीचतुष्क व नरकायु तथा तिर्यंचायु को घटाने से १४८-६- = १४२ प्रकृतियाँ।

उपशम श्रेणी में १३८ प्रकृतियाँ। इस गुणस्थान में क्षपक श्रेणी नहीं होती।

१२) क्षीण मोह गुणस्थान- मूल ७ उत्तर १०१

प्रारंभ में १०१ प्रकृतियाँ तथा द्विचरम समय में निद्रा व प्रचला का क्षय होने से १०१-२ = ९९ प्रकृतियाँ।

अन्तिम समय में ज्ञानावरण ५, दर्शनावरण ४ और अन्तराय ५, कुल चौदह प्रकृतियों का क्षय होने से ९९-१४ = ८५ प्रकृतियाँ।

१३) सयोगी-केवली गुणस्थान -मूल ४ उत्तर ८५

चौदहवें गुणस्थान के द्विचरम समय में क्षय होने वाली ७२ प्रकृतियाँ तथा अन्त समय में क्षय होनेवाली १२ प्रकृतियाँ और साता और असाता वेदनीय में से कोई एक।

१४) अयोगी-केवली गुणस्थान - मूल ४ उत्तर १२/१३

इस गुणस्थान के द्विचरम समय तक जो ८५ प्रकृतियों की सत्ता रहती है, उसमें से द्विचरम समय में-

देवद्विक, स्वगति द्विक, शरीर नाम ५, बंधन नाम ५, संघातन नाम ५, निर्माण संहनन ६, अस्थिरषट्क, संस्थान नाम ६, अगुरुलघुचतुष्क, अपर्याप्त नाम, साता या असाता वेदनीय, प्रत्येकत्रिक, अंगोपांगत्रिक, सुस्वर नाम और नीच गोत्र इन ७२ प्रकृतियों की सत्ता का अभाव हो जाता है।

चौदहवें गुणस्थान के अंतिम समय में मनुष्यत्रिक, त्रसत्रिक, यशकीर्ति नाम, आदेयनाम, सुभगनाम, तीर्थंकरनाम, उच्चगोत्र, पंचेंद्रियजाति, साता या असाता वेदनीय में से कोई एक इस प्रकार कुल तेरह प्रकृतियों का अभाव हो जाने से आत्मा मुक्त हो जाती है।

(कुछ कार्मग्रंथिकों का मत है कि मनुष्यानुपूर्वी का उदय पहले, दूसरे और चौथे गुणस्थान में ही होता है, अतः अयोगी केवली अवस्था में नहीं हो सकता। इसलिए ७३ प्रकृतियों का उपान्त्य समय में और अन्त समय में बारह प्रकृतियों का सत्त्व विच्छेद हो जाता है।)

आध्यात्मिक विकास की पूर्णता मोक्ष स्वरूप और मार्ग

पूर्वांकित समग्र वर्णन से यह स्पष्ट हो जाता है कि संसारी जीव अनादि काल से संसार में परिभ्रमण कर रहा है। इसके कारण हैं, उसके राग, द्वेष, कषाय आदि वैभाविक भाव। इनसे उसके साथ कार्मण पुद्गलों का बंध होता रहता है।[1] ये संबद्ध कर्म अपने अपने स्वभावानुरूप उदयकाल में फल प्रदान करते हैं। लेकिन जीव और कर्म का यह संबंध अनादिकालीन होने पर भी सान्त है। जब जीव कर्मबंध के कारणों का उच्छेद करके, मन-वचन-काय के योगों का निरोध करके शैलेशी अवस्था को प्राप्त कर लेता है, तब सब कर्मों का क्षय करके इस पार्थिव शरीर का परित्याग कर ऊर्ध्व दिशा में गमन कर सिद्धि अर्थात् मुक्ति को प्राप्त कर लेता है। अतः अब यह विचार करते हैं कि कर्ममुक्ति के क्या उपाय है और कर्मक्षय के अनन्तर स्वरूप-रमण करती हुई आत्मा का अवस्थान कहाँ होता है।

दार्शनिक जगत में तीन दर्शन मुख्य माने गये हैं-यूनानी दर्शन, पाश्चात्य दर्शन और भारतीय दर्शन। यूनानी दर्शन का उद्भावक तत्त्व आश्चर्य और पाश्चात्य दर्शन का जनक संशय स्वीकार किया गया है। लेकिन भारतीय दर्शन केवल विचार प्रणाली नहीं अपितु जीवन प्रणाली भी है। वह जीवन और जगत के प्रति एक विशिष्ट दृष्टिकोण प्रस्तुत करता है। अन्य दर्शनों की भाँति भारतीय दर्शन का ध्येय मात्र ज्ञान प्राप्त करना नहीं है। वह तत्त्व के गंभीर रहस्यों का ज्ञान प्राप्त कर लेना ही पर्याप्त नहीं समझता। उसका एक निश्चित उद्देश्य है दुःखों को दूर कर शाश्वत और परम सुख को प्राप्त करना। इसीलिए भारतीय दर्शन का जन्म जिज्ञासा से हुआ है[2] और जिज्ञासा का मूल दुःख में रहा हुआ है।[3] जिज्ञासा के अनेक रूप है, लेकिन उन सब

---

१. सकषायत्वाज्जीवः कर्मणो योग्यान् पुद्गलानादत्ते। स बन्धः। - तत्त्वार्थ सूत्र ८/२, ३

२. (क) अथातो ब्रह्म जिज्ञासा-वैशेषिक दर्शन ९, मीमांसा सूत्र १
(ख) अथातो ब्रह्म जिज्ञासा-ब्रह्म सूत्र १/१

३. दुःखत्रयाभिघाताज् जिज्ञासा। - सांख्य कारिका १

का अंतिम पर्यवसान-फलितार्थ जन्म, जरा, मरण, आधि, व्याधि और उपाधि से सदा सदा के लिए मुक्त हो कर परम समाधि को प्राप्त कर लेना है।

परम समाधि का अपर नाम मोक्ष है। मोक्ष भारतीय दर्शन का केन्द्र बिन्दु है। यही उद्देश्य है और इसी उद्देश्य की प्राप्ति के लिए मनुष्य सदा प्रयत्नशील रहता है। भारतीय दर्शन इस उद्देश्य की प्राप्ति के उपाय भी बताता है। श्री अरविन्द मोक्ष को भारतीय विचार-चिन्तन का एक अपना महान शब्द मानते हैं। वे कहते हैं कि यदि भारतीय दर्शन की कोई महत्त्वपूर्ण विशिष्टता है, तो वह मोक्ष का चिन्तन है, जो उसे अन्यान्य दर्शनों से पृथक् करती है।

भारतीय दर्शनों ने कहा है कि संसार में चार बातें ऐसी होती हैं, जिन्हें प्राप्त करना पुरुष का परम कर्तव्य है। उनका नाम पुरुषार्थ (पुरुष का अर्थ अर्थात् प्रयोजन, प्राप्तव्य) है। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष ये चार पुरुषार्थ कहे गये हैं। इनमें से मोक्ष या मुक्ति सर्वश्रेष्ठ पुरुषार्थ है। इस संसार के समस्त प्राणी आधिमानसिक, आधिदैविक और आधिभौतिक इन तीन प्रकार के दुःखों से सदा संत्रस्त रहते हैं और दुःखों से छुटकारा पाना ही पुरुष का अंतिम लक्ष्य है, साध्य है।

यद्यपि चार्वाक दर्शन के प्रादुर्भाव की भूमि भी यही भारत है, जिससे उसे भारतीय मान लिया जाये। लेकिन उसने आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार नहीं किया है। शेष आत्मवादी परंपरा को वैदिक, जैन, बौद्ध और आजीविक इन चार भागों में विभाजित किया जा सकता है। वर्तमान में आजीविक दर्शन का कोई स्वतंत्र ग्रंथ उपलब्ध नहीं है। अतः आजीविकों के द्वारा प्रतिपादित मोक्ष के स्वरूप के बारे में चिन्तन न करके शेष तीन की मोक्ष एवं मोक्षोपाय संबंधी विचारधारा को यहाँ उपस्थित करते हैं।

न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, पूर्वमीमांसा और उत्तर मीमांसा ये छह वैदिक परंपरा के आत्मवादी दर्शन हैं। पूर्व मीमांसा में मूल रूप से यज्ञयागादि विधि-विधानों की मीमांसा की गयी है। प्रारंभ में उसका चिन्तन स्वर्ग-प्राप्ति तक सीमित था, पर उत्तरवर्ती काल में उसने भी मोक्ष के बारे में चिन्तन किया है।[१] यहाँ यह स्मरण रखना चाहिये कि इन वैदिक दर्शनों में आत्मा के स्वरूप को लेकर जैसा विचारभेद है, वैसा ही मोक्ष के स्वरूप-चिन्तन में भी भेद है। सभी की अपनी अपनी कल्पना है। उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र आदि को अपना मूल आधार मानने वाले दर्शनों तक के विचारों में भी एकरूपता नहीं है। कोई परंपरा जीवात्मा और परमात्मा में भेद

---

१. अध्यात्म विचारणा पृष्ठ ७४ पंडित सुखलालजी
प्रकाशक - गुजरात विद्यासभा अहमदाबाद

मानती है, तो कोई सर्वथा अभेद और कोई भेदाभेद। कोई परंपरा आत्मा को व्यापक[1] तो कोई अणुरूप[2] मानती है। कोई आत्मा को अनेक मानती है, तो कोई एक। इसके साथ यह भी स्पष्ट तथ्य है कि सभी वैदिक दार्शनिकों ने किसी न किसी रूप में आत्मा को कूटस्थ नित्य माना है।

बौद्ध दर्शन यद्यपि अनात्मवादी माना जाता है, लेकिन उसका अनात्मवाद चार्वाक दर्शन की तरह आत्मा का सर्वथा अभाव नहीं है। प्रकारान्तर से उसने आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार किया है। इसीलिए उसमें भी मोक्ष का विचार है। और जैन दर्शन का केन्द्र बिन्दु तो आत्मा ही है। उसकी प्रत्येक साधना आत्मानुलक्षी है। इस कारण इसमें मोक्ष का अथ से ले कर इति तक विशद एवं विशेष रूप से विचार किया गया है।

अतः अब अपेक्षित विशेष स्पष्टीकरण के साथ जैन, वैदिक और उन उन दर्शनों के मोक्ष संबंधी दृष्टिकोण प्रस्तुत करते हैं।

जैन दर्शन:

जैन दर्शन अध्यात्मवादी दर्शन है और इसका चरम लक्ष्य आत्मा की परम समाधि-कर्मक्षय करके आत्यंतिक सुख प्राप्त करना माना गया है। वह सुख कब, कैसे और कहाँ प्राप्त होता है? इस प्रश्न का उत्तर देने के लिए इसमें क्रमबद्ध विचार किया गया है कि मूलतः आत्मा स्वरूप से परम शुद्ध हो कर भी उससे दूर क्यों है। इसके कारण क्या हैं? इन कारणों से आत्मा की कौन कौन सी अवस्थाएँ बनती हैं? ये अवस्थाएं औपाधिक हैं, तो उन उपाधियों को दूर करने के उपाय क्या हैं? उपाधियों के दूर होते जाने के प्रसंग में आत्मा किन किन भूमिकाओं को प्राप्त करती है? अंतिम भूमिका प्राप्त हो जाने के अनन्तर आत्मा को क्या उपलब्धि होती है और उस उपलब्धि में रमण करती हुई आत्मा कहाँ, कब तक रहती है? आदि। आत्मा की लघुतम योग्यता की दिग्दर्शक अवस्था संसार है और महत्तम योग्यता की दर्शक स्थिति का नाम मोक्ष है। जैन दर्शन की दृष्टि से संसार और संसार के कारणों का तो पूर्व में विशद रूप से विचार किया जा चुका है। अब मोक्ष और उसकी प्राप्ति के साधनों पर दृष्टिपात करते हैं।

---

१. मुण्डकोपनिषद् १/१/६, वैशेषिक सूत्र ७/१/२२ न्यायमंजरी (विजयनगरम्) पृष्ठ ४६८, प्रकरण-पंजिका पृष्ठ १५८

२. बृहदारण्यक उपनिषद् ५/६/१, छांदोग्य उपनिषद् ५/१८/१ मैत्रेयी उपनिषद् ६/३८

मोक्ष प्राप्ति का अधिकारी कौन ?

लोक व्यवहार में यह तो सब का अनुभव है कि उपलब्धि योग्यता पर आधारित है। योग्यता के अनुरूप सफलता प्राप्त होती है। वैसे ही मोक्ष के बारे में विचार करने के पूर्व यह समझ लेना जरूरी है कि उसका अधिकारी कौन है और उसकी योग्यता क्या है।

यद्यपि सामान्य से संसार के सभी जीव मोक्ष के अभिलाषी हैं, लेकिन उसकी प्राप्ति की योग्यता वही अर्जित कर सकता है, जो राग-द्वेष से, कषाय से, मद से मुक्त है, जो मौनी है, सम्यग्दृष्टि है और सदाचारी, अल्पभोजी-अल्पभाषी, जितेन्द्रिय, अनासक्त विवेकशील है, आरंभ परिग्रह का त्यागी है, हिंसा से सर्वथा निवृत्त है, कमल के समान अलिप्त रहने वाला है, हिताहित के विवेक वाला, उपशान्त, विवेक पूर्वक हितमित वचन बोलने वाला, दीर्घदर्शी, दृढ़तापूर्वक संयम का पालन करने वाला, शुद्धचारित्र का आराधक, निर्ग्रन्थ प्रवचन का पालक, माया-मृषा भाषा का त्यागी, काम-भोगों से अनासक्त, जीवन-मरण से निःस्पृह, विषय-भोगों से विरत, शल्य रहित, हेय-ज्ञेय-उपादेय का ज्ञाता, निंदा-प्रशंसा में समभाव रखने वाला, आत्मनिग्रह करने वाला और ज्ञान और क्रिया का समन्वित रूप से आचरण करने वाला है तथा इसी प्रकार के अन्यान्य गुणों से युक्त एवं तदनुकूल आचार-विचार की वृत्ति वाला है। वह अवश्य मोक्ष प्राप्त करेगा। वही मोक्ष प्राप्ति का अधिकारी है।

मुक्ति क्यों, कब और कैसे ?

जब यह निश्चित है कि 'तीन लोक के जीव अनन्त, सुख चाहैं दुःखतैं भयवन्त' हैं। सुख प्राप्ति के लिए वे सब कुछ कर लेने के लिए तत्पर हैं। यहाँ तक कि उग्र तपश्चरण, कष्टसाध्य अनुष्ठान, प्रचंड परीषह-सहन आदि करने में भी क्षण मात्र का प्रमाद पसंद नहीं करते। इन्हें और ऐसी ही अन्यान्य प्रवृत्तियों को भी अपना सामान्य कार्य मानने को तैयार हो जाते हैं। यह सब इसलिए कि वे सुखैषी हैं।

सुख तो भोग्य पदार्थों के उपभोग से भी प्राप्त किया जा सकता है, लेकिन उससे प्राप्त होने वाला सुख अशान्त है, क्षणिक है, सुखाभास है और दुःखमिश्रित है। इसीलिए उसे पा कर भी प्राणी तृप्त नहीं होता। वह तृष्णाग्नि से झुलसता रहता है। समग्र लोक की संपत्ति, धन-वैभव के अंबार भी उसकी आकांक्षा के आकार की पूर्ति करने में अक्षम रहते हैं। लेकिन शाश्वत सुख मुक्ति से मिलता है। उसे पा कर आत्मा असीम आनंद की अनुभूति करती है। वह सुख अनुपमेय है। उसकी उपमा योग्य उपमेय पदार्थ संसार में विद्यमान नहीं है, क्योंकि मुक्तात्मा को जैसा सुख होता है, वैसा सुख मनुष्यों में न तो किसी सम्राट-चक्रवर्ती को है और न किसी

देव-देवेन्द्र को। उनके सुख में भी यदा कदा विघ्न-बाधा आती रहती है। उनका सुख भी उद्वेगकारी है, किन्तु मुक्तात्मा का सुख अव्याबाध (बाधारहित) होता है। उसका अनुमान लगाने के लिए आगम में कहा गया है कि —

यदि कोई समस्त देवों की स्वर्गीय सुखराशि को अनन्त काल के अनन्त समयों से गुणित करे, तो भी मुक्त आत्मा के सुख की तुलना नहीं की जा सकती, अनुमान नहीं लगाया जा सकता। एक मुक्तात्मा के सर्वकाल की संचित सुखराशि को अनन्त वर्गमूल से विभाजित करने पर जो एक समय की राशि शेष रहती है, वह भी सारे आकाश में नहीं समा सकती।[१] इस प्रकार मुक्तात्माओं का सुख शाश्वत एवं अनुपम है। इसीलिए तो मुक्तात्मा के सुख को उपमान-उपमेय से अतिक्रान्त कहा गया है।

यहाँ यह प्रश्न होता है कि यह कैसे मान लिया जाये कि मुक्तात्मा सुख की ही अनुभूति करती है? मुक्तात्मा शाश्वत, अनुपमेय, अव्याबाध सुख में रमण करती रहती है। पिंजरे से मुक्त पक्षी, पिटारी से मुक्त पन्नग (साँप) एवं कारावास से मुक्त मनुष्य के आनन्द की आंशिक झलक से मुक्तात्मा के अनन्त शाश्वत सुख के स्वरूप को कुछ समझा जा सकता है जैसे कि—

सोने के पिंजरे में पालित शुक विविध प्रकार के मेवा-मिष्टान्न आदि खाकर भी सुखानुभव से शून्य रहता है। वह चाहता है-पिंजरे से मुक्ति और अनंत आकाश में उन्मुक्त उड़ान, विहार।

पयपान से तृप्त होकर भी पिटारी में परावृत्त पन्नग भी पराधीनता की पीड़ा से प्रतिक्षण पीड़ित रहता है। वह चाहता है-पिटारी की परिधि से मुक्ति और स्वच्छंद संचरण।

श्रम किये बिना ही कोमल शैया, सरस आहार, शीतल सलिल आदि की अनेकानेक सुविधाएँ प्राप्त करके भी कारावास में कैद मनुष्य अन्तर्वेदना से अहर्निश व्यथित रहता है। वह चाहता है-स्वतंत्रता एवं स्वैर विहार। चाहे फिर उसे कठोर श्रम के बाद आवास के लिए पर्णकुटी, शयन के लिए भूशैया और भोजन के लिए अपर्याप्त अरस-विरस आहार ही क्यों न मिले। वह इसमें भी सन्तुष्ट रहेगा, लेकिन वह चाहता है स्वतंत्र सुख।

'किसलिए' की मीमांसा कर लेने के बाद 'कब' और 'कैसे' को समझने के लिए यह जानना आवश्यक है कि आत्मा कर्मबद्ध कब हुई और मुक्त कब होगी। इसका समाधान इस प्रकार है—

---

१. प्रज्ञापना २/२११

संसारी आत्मा अनादि काल से कर्म बद्ध है। अन्य दर्शनों की तरह जैन दर्शन भी जीव और कर्म के संबंध को अनादि मानता है। ऐसा किसी ने भी नहीं माना है कि जीव किसी समय सर्वथा शुद्ध था और उसके साथ कर्मों का सम्बन्ध बाद में हुआ। यदि सर्वथा शुद्ध जीव को भी कर्म का बंध माना जाये, तो मुक्त जीव को भी कर्म बंध मानना पड़ेगा। तब क्यों कोई जीव मुक्ति के लिए प्रयत्न करेगा? आत्मा और कर्म का संबंध अनादि काल से है, जिसका पूर्व में सविस्तार विवेचन किया जा चुका है। लेकिन संक्षेप में उसे इस प्रकार समझ सकते हैं कि जिस प्रकार बोझा ढोनेवाला व्यक्ति कावड़ के द्वारा बोझा ढोता है, वैसे ही संसारी जीव शरीर रूपी कावड़ के द्वारा कर्मभार ढोता है।[१] इससे यही निष्कर्ष निकलता है कि संसारी आत्मा अनादि काल से कर्मबंधन युक्त है, जैसे कि सोने की खान में सोना अनादि काल से मिट्टी से मिश्रित है।

संसारी जीव के साथ कर्मों का संबंध होने के जितने भी मार्ग हैं, उन्हें जैन दर्शन में आस्रव और बंध (कर्मों से बंध हो जाना) कहा है। जो आस्रव के कारण हैं, वे ही बंध के भी कारण हैं और जो बंध के कारण हैं, वे ही आस्रव के कारण हैं।

सामान्यरूप से बंध के पाँच हेतु हैं-मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग। इनमें कषाय और योग मुख्य हैं। इन दोनों के सद्भाव में कर्मबंध होता है। इनके अभाव में नहीं होता। इसीलिए बंध के विषय में बताया गया है कि जीव कषायसहित होने के कारण कर्म के योग्य पुद्गलों को ग्रहण करता है, जिसका नाम बंध है। इसका आशय यह हुआ कि शुद्ध आत्मा में कर्म का बंध नहीं होता, किन्तु कषायवान आत्मा ही प्रति समय कर्म का बंध करती है। कषाययुक्त आत्मा के कर्म बंध की प्रक्रिया का विशद विवेचन पूर्व में किया जा चुका है। यह पहले बताया जा चुका है कि यद्यपि कर्मबंधन अनादि काल से चला आ रहा है, किन्तु वह सान्त है। अतः इन अनादिकालीन कर्मबंधन की परंपरा का अंत करने के लिए जैन दर्शन में द्विमुखी परंपरा बतलायी गयी है। एक तो मिथ्यादर्शन आदि के द्वारा आने वाले कर्मों के मार्ग को रोक देना और दूसरी संचित कर्मों को निःशेष करना। इन दोनों को क्रमशः संवर और निर्जरा कहा जाता है। संवर के द्वारा नवीन कर्मों का आगमन रुक जाता है[२] और निर्जरा के द्वारा पूर्व संचित कर्मों का सविपाक या अविपाक क्षय किया जाता है। इस प्रकार संवर द्वारा नवागत कर्मों का निरोध एवं निर्जरा द्वारा संचित

---

१. जह भारवहो पुरिसो, वहइ भारं गहिऊण कावडियं।
एमेव वहइ जीवो, कम्मभरं काय कावडियं॥ - *गोम्मटसार जीवकांड १०२*

२. आस्रवनिरोधः संवरः। - *तत्त्वार्थ सूत्र ९/१*

कर्मों का पूर्ण क्षय हो जाता है। इसे एक उदाहरण द्वारा इस प्रकार समझा जा सकता है—

एक सरोवर में जल भरा हुआ है और उसमें नवीन जल आता रहे, इसके लिए जलागमन के कई मार्ग हैं। जब हमें उस सरोवर को खाली करना होता है, तो सब से पहले हम जल आने के मार्ग को बंद कर देते हैं और पुराने जल को सूर्य ताप द्वारा सुखा कर या बाल्टी द्वारा खींच कर निकालना पड़ता है। तभी वह खाली हो सकता है। इसी प्रकार जीवरूप सरोवर में कर्मरूप जल भरा हुआ है और हमें जीव को कर्मों से मुक्त करना है, तो आवश्यक यह है कि हम प्रथम कर्मागमन के मार्गरूप आस्रव को रोकें और पहले बँधे हुए कर्मों को तप, संयम आदि के द्वारा बाहर निकाल फेंके या सुखा डालें। इस प्रकार करने से नये कर्मों का आगमन-बंध नहीं होगा और पूर्व के कर्म भोग कर या तपादि अनुष्ठानों से नष्ट कर देने पर मुक्ति होना अनिवार्य है। इस प्रकार कर्मरज से मुक्त हो कर आत्मा मुक्ति क्षेत्र में स्थित हो जाती है।

मुक्ति के दो प्रमुख हेतु

उपर्युक्त कथन का फलितार्थ यह हुआ कि संवर से बंधहेतुओं का अभाव एवं निर्जरा द्वारा संचित कर्मों का शोष होने पर जीव मुक्त हो जाता है। मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग ये पाँच कर्मबंध के हेतु हैं। इनके अभाव में पाँच संवर के हेतु प्राप्त होते हैं-सम्यक्त्व, विरति, अप्रमाद, अकषाय, और योगगुप्ति। ये पाँच हेतु आत्मा को कर्मबंध होने से बचाते हैं। अर्थात् इनके कारण नये कर्मों का बंध नहीं होता और निर्जरा द्वारा जो अनशन आदि छह बाह्य तप और प्रायश्चित्त आदि छह अभ्यन्तर तपरूप है, पूर्वबद्ध कर्मों का क्षय होता है।[१] संवर-निर्जरा का विशेष स्वरूप जानने के लिए तत्त्वार्थ सूत्र, ज्ञानसार आदि ग्रंथों का अवलोकन करना चाहिये। यहाँ संक्षेप में उनके भेदों को समझने के लिए कुछ संकेत करते हैं।

आस्रव का निरोध संवर कहलाता है और आस्रव के निरोध के उपाय हैं-गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परीषहजय और चारित्र।[२] इनके क्रमशः तीन, पाँच, दस, बारह, बाईस और पाँच उत्तर भेद हैं। उनके नाम और लक्षण इस प्रकार हैं-

तीन गुप्ति—१. मनोगुप्ति-दुष्ट संकल्प एवं अच्छे-बुरे मिश्रित विचारों का त्याग करके सद्विचारों में मन को केन्द्रित करना। २. वचनगुप्ति-यद्वा-तद्वा न बोल कर मौन धारण करना। ३. कायगुप्ति- पाप कार्यों से काया की प्रवृत्ति का निग्रह

---

१. तपसा निर्जरा च। - तत्त्वार्थ ९/३

२. स गुप्तिसमितिधर्मानुप्रेक्षापरीषहजयचारित्रैः। - तत्त्वार्थ सूत्र ९/२

करना, इन्द्रियों की चंचल प्रवृत्ति का निरोध करना। अर्थात् मन, वचन और काया इन तीन योगों का निग्रह करने को गुप्ति कहते हैं।[1]

पाँच समिति—१. ईर्यासमिति-किसी भी जीव को क्लेश न हो, एतदर्थ सावधानी पूर्वक चलना। २. भाषासमिति-सत्, हित, मित, संदेहरहित वचन व्यवहार करना। ३. एषणासमिति-जीवन मात्र के साधनभूत शुद्ध आहार की गवेषणा करना। ४. आदान भंड-मत्त निक्षेपण समिति-वस्तु मात्र को भलीभाँति देख करके, प्रमार्जित करके लेना या रखना। ५. उत्सर्ग समिति—जीवजन्तुरहित ऐसे प्रदेश में देख कर या प्रमार्जित करके ही मल-मूत्र आदि अनुपयोगी वस्तुओं का प्रेक्षप करना।[2]

गुप्ति में असत् क्रिया का निषेध और समिति में सत्क्रिया में प्रवृत्ति मुख्य है।

दस धर्म:—क्षमा, मार्दव (मृदुता, नम्रता), आर्जव (सरलता), निर्लोभता, सत्य, संयम, तप, त्याग, आकिंचन्य (ममत्व त्याग) और ब्रह्मचर्य। इनमें से संयम सतरह प्रकार का है-पाँच इन्द्रियों का निग्रह, पाँच अव्रतों (हिंसा आदि) का त्याग, चार कषायों (क्रोध आदि) पर जय और तीन योगों (मन आदि) का निग्रह।[3]

बारह अनुप्रेक्षाएँ—अनुप्रेक्षा अर्थात् बार बार गहरा चिन्तन करना। अनित्य, अशरण, संसार, एकत्व, अन्यत्व, अशुचि, आस्रव, संवर, निर्जरा, लोक, बोधिदुर्लभ और धर्म[4] ये बारह अनुप्रेक्षाएँ हैं। इन्हें भावनाएँ भी कहते हैं।

बाईस परीषह—क्षुधा, तृषा, शीत, उष्ण, दंशमशक, नाग्न्य, अरति, स्त्री, चर्या, निषद्या, शैया, आक्रोश, वध, याचना, अलाभ, रोग, तृणस्पर्श, मल, सत्कार, प्रज्ञा, अज्ञान और अदर्शन।[5]

पाँच चारित्र-१. सामायिक-समभाव में रहना।

२. छेदोपस्थान-विशेष शुद्धि के लिए पुनः दीक्षा।

३. परिहार विशुद्धि-विशेष प्रकार की तप साधना।

४. सूक्ष्म संपराय-क्रोधादि कषायों का अभाव। केवल सूक्ष्म लोभ रहना।

५. यथाख्यात-पूर्ण वीतराग भाव-आत्म स्वभाव की प्राप्ति।[6]

---

१. सम्यग्योगनिग्रह-गुप्तिः। - तत्वार्थ सूत्र ९/४

२. तत्वार्थ सूत्र ९/५

३. तत्वार्थ सूत्र ९/६

४. - तत्वार्थ सूत्र ९/७

५. तत्वार्थ सूत्र ९/९ ६. - तत्वार्थ सूत्र ९/१८

तप के द्वारा निर्जरा होती है। अर्थात् तप कर्म-निर्जरा का कारण है। बाह्य और अभ्यन्तर के भेद से तप के मूल भेद दो हैं और इनके भी क्रमशः छह छह भेद हैं। इस कारण निर्जरा के बारह भेद माने जाते हैं। तप के बारह भेदों के नाम इस प्रकार हैं -

छह बाह्य तप—१. अनशन-आहार का त्याग। २. ऊनोदरी-भूख से कम खाना। ३. वृत्तिसंक्षेप-विविध वस्तुओं की लालचवृद्धि को कम करना। ४. रस त्याग-घी, दूध, दही, गुड, तेल व पक्वान्न का त्याग और मद्य, माँस, मधु व मक्खन का सर्वथा त्याग। ५. कायक्लेश-ठंड, गर्मी व विविध आसनादि के द्वारा शरीर को कष्ट देना। ६. संलीनता-अंगोपांग संकोच कर रहना, एकान्त स्थान में संयत भाव से रहना।[१]

छह अभ्यन्तर तप-१. प्रायश्चित्त-दोषशोधन। २. विनय। ३. वैयावृत्य-सेवा। ४. स्वाध्याय-वाचना, पृच्छना। ५. ध्यान। ६. उत्सर्ग-शरीरादि का ममत्व हटाना और काषायिक विचारों में तन्मयता का त्याग।[२]

केवल अनशनादि छह बाह्य तपों के मात्र आचरण से सकाम निर्जरा (विवेक पूर्वक कर्मक्षय) नहीं होती। साथ में प्रायश्चित्त आदि छह अभ्यन्तर तपों की आराधना भी आवश्यक है। केवल बाह्य तप की आराधना से तो अकाम निर्जरा होती है।

मोक्ष का लक्षण:

संवर और निर्जरा द्वारा बंध हेतुओं तथा पूर्व संचित कर्मों का निःशेष रूपेण क्षय हो जाना ही मोक्ष है।[३] अर्थात् मोक्ष आत्मा की सर्वांगीण पूर्णता, पूर्ण कृतकृत्यता एवं परम पुरुषार्थ की सिद्धि है और यह स्थिति तभी बनती है, जब आत्मा तीन- 'क' कारों (ज्ञानावरणादि अष्ट कर्म, कलंक (राग-द्वेष-मोह) और काया) से अपने को सर्वथा जुदा करने से अचिन्त्य, स्वाभाविक ज्ञानादि गुण और अव्याबाध सुखरूप सर्वथा विलक्षण अवस्था में रूपान्तरित हो जाती है।[४] इस प्रकार मोक्ष जीवन की वह अवस्था है, जहाँ सब बंधन उन्मूलित हो जाते हैं, दैहिक, वाचिक और मानसिक सब

---

१. तत्त्वार्थ सूत्र ९/१९

२. - तत्त्वार्थ सूत्र ९/२०

३. बंधहेत्वभावनिर्जराभ्याम्। कृत्स्नकर्मक्षयो मोक्षः।- तत्त्वार्थ सूत्र १०/२, ३

४. निरवशेष निराकृत कर्ममलकलंकस्य शरीरस्यात्मनोऽचिन्त्य स्वाभाविक ज्ञानादि-गुणमव्याबाधसुखमात्यंतिकमूतस्थानान्तरं मोक्षः। - सर्वार्थसिद्धि १/१

दोष निःशेष हो जाते हैं, और सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक, भौतिक आदि सभी उपाधियों-बंधनों से पूर्ण स्वतंत्रता प्राप्त हो जाती है।

भगवान महावीर ने दो प्रकार की परिज्ञा का निर्देश किया है-ज्ञ और प्रत्याख्यान अर्थात् जानना और छोड़ना। ज्ञेय सब पदार्थ हैं। आत्मा के साथ जिनका विजातीय संबंध है, वे हेय हैं और उपादेय आत्मा का स्वरूप है, जो सच्चिदानंदघनरूप है। जब तक हेय नहीं छूटता, तब तक वह उसे छोड़ने की उलझन में फँसी रहती है। हेय छूटते ही आत्मा स्वरूप में अवस्थित हो जाती है।

मोक्ष मोक्ष है। उसका कोई भेद नहीं है।[१] लेकिन जब व्यवहार नय से भेद करने की ओर हमारी दृष्टि जाती है, तब उसके भावमोक्ष और द्रव्यमोक्ष ये दो भेद हो जाते हैं।[२] क्षायिक ज्ञान-दर्शन व यथाख्यात चारित्ररूप (शुद्ध रत्नत्रयात्मक) जिन परिणामों से निरवशेष कर्म आत्मा से दूर किये जाते हैं, उन परिणामों को भाव मोक्ष कहते हैं और संपूर्ण कर्मों का आत्मा से अलग हो जाना द्रव्यमोक्ष है। अथवा कुंदकुंदाचार्य के मत से ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय इन चार घाती कर्मों का क्षय भावमोक्ष है तथा आयु, नाम, गोत्र और वेदनीय इन चार अघाती कर्मों का भी क्षय द्रव्यमोक्ष है। इन दोनों में से प्रथम को जीवनमुक्त और दूसरे को विदेह-मुक्त दशा कह सकते हैं।

यहाँ यह स्मरणीय है कि संवर और निर्जरा से बंधहेतुओं एवं संचित कर्मों का तत्काल एक साथ क्षय नहीं होता, किन्तु क्रमशः होता है। आत्मा की मिथ्यात्व दशा निकृष्ट दशा है। उस दशा से उत्क्रान्ति करती हुई आत्मा शुद्ध आत्मस्वरूप को प्राप्त करती है। उत्क्रान्तिकाल में आत्मा एक के बाद दूसरी, दूसरी के बाद तीसरी आदि इस प्रकार क्रमिक विकास की अवस्थाओं-भूमिकाओं से पार होती है। उनमें आत्मा के गुणों का विकास क्रमशः (बंधहेतुओं की निवृत्ति एवं संचित कर्मों की निर्जरा) होता जाता है। इन अवस्थाओं को जैन आगमों में गुणस्थान कहा गया है। मिथ्यात्व, सास्वादन आदि नाम वाले चौदह गुणस्थान हैं। इनका विशद विवेचन पूर्व में 'आध्यात्मिक विकास की भूमिकाएँ-गुणस्थान' शीर्षक के अन्तर्गत किया जा चुका है। विकास में सहायक और आत्मा को विकासोन्मुखी बनाने वाली कर्मक्षय की प्रक्रिया चतुर्थ गुणस्थान से प्रारंभ होती है और चौदहवें गुणस्थान में समाप्त होती है। यही कारण है कि चौदहवें गुणस्थान के अंतिम समय में जीव सर्वथा मुक्त हो जाता है।

---

१. एगो मोक्खे। - स्थानांग १।१०

२. तं मुक्खं उ विसुद्धं खलु दव्वभावगदम्। - बृहद् नय चक्र १५१

मुक्तात्मा के मौलिक गुण: -

मुक्त होने पर आत्मा का अस्तित्व समाप्त नहीं हो जाता, किन्तु वह स्वाभाविक गुणों से युक्त स्वरूप में स्थित रहती है, जो कर्मावरण के कारण पूर्ण रूपेण अभिव्यक्त नहीं हुआ था।[१] संक्षेप में स्वभाविक गुणों के नाम इस प्रकार हैं-१. अनन्त ज्ञान, २. अनन्त दर्शन, ३. अव्याबाध सुख, ४. क्षायिक सम्यक्त्व, ५. अक्षय स्थिति, ६. अमूर्तत्व, ७. अगुरु-लघुत्व और ८. अनन्तवीर्य।[२] ज्ञानावरण आदि आठ मूल कर्म प्रकृतियों के क्षय की अपेक्षा से ये आठ गुण कहे गये हैं, लेकिन इनके मूल उत्तर भेदों के क्षय की अपेक्षा से गुणों का विचार किया जाये, तो मुक्तात्मा में इकतीस गुण प्रकट होते हैं। वे इस प्रकार हैं-

१. ज्ञानावरण के क्षय से पाँच गुण, २. दर्शनावरण के क्षय से नौ गुण, ३. वेदनीय के क्षय से दो गुण, ४. मोहनीय के क्षय से दो गुण (दर्शन मोहनीय और चारित्र मोहनीय इन दो मूल भेदों की अपेक्षा से), ५. आयु कर्म के क्षय से चार गुण, ६. नाम कर्म के क्षय से दो गुण (शुभ और अशुभ ये नाम कर्म के मूल उत्तर भेद हैं।), ७. गोत्र कर्म के क्षय से दो गुण और ८. अन्तराय कर्म के क्षय से पाँच गुण।

मुक्तात्मा का अवस्थान:-

अब प्रश्न यह है कि कर्ममुक्त होने पर आत्मा कहाँ रहती है? क्योंकि चेतन या अचेतन जो द्रव्यरूप है, उसका स्थान अवश्य होना चाहिये। तो इसका उत्तर यह है कि मुक्तात्मा स्थूल (औदारिक) और सूक्ष्म (तैजस, कार्मण) शरीर छोड़कर अविग्रह (सरल) गति से गमन कर लोक के अग्रभाग में स्थित मुक्तिक्षेत्र (सिद्धशिला) में पहुँच कर वहीं स्थित हो जाती है।[३] इस गति में केवल एक समय लगता है।[४] क्योंकि मुक्ति मनुष्य गति से ही होती है, अन्य किसी गति से नहीं। मनुष्यों का सद्भाव ढाई द्वीप (जंबूद्वीप, धातकीखंडद्वीप और आधा पुष्करवरद्वीप) और उनके बीच में आये हुए दो समुद्रों (लवणोदधि और कालोदधि) में पाया जाता है। इस समस्त क्षेत्र

---

१. निःशेष कर्म निर्मोक्षः, स्वात्मलाभोऽभिधीयते।
मोक्षो जीवस्य नाभावो, न गुणभावमात्रकम्॥ - *तत्त्वार्थ श्लोकवार्तिक ४ पृष्ठ ५८*

२. सम्मत्त णाण दंसण, वीरिय सुहुमं तहेव अवगहणं।
अगुरुलघुमव्वाबाहं, अट्ठगुणा होंति सिद्धाणं॥ - *लघु सिद्ध भक्ति ८*

३. तदनन्तरमूर्ध्वं गच्छत्या-लोकान्तात्। - *तत्त्वार्थ सूत्र १० १५*

४. एक समयोऽविग्रहः। - *तत्त्वार्थ सूत्र २ /३०*

का विस्तार पैंतालीस लाख योजन प्रमाण है। अतः मनुष्यक्षेत्र से आत्मा जिस स्थान पर कर्म-देहमुक्त होती है, उस स्थान से सीधे ऊपर की ओर मुक्तिक्षेत्र में मुक्त आत्मा स्थित होती है। इसलिए मुक्तात्मा की ऊर्ध्वगति में कोई विग्रह (मोड़) नहीं होता। वह अविग्रह गति से होती है।[१]

मुक्त जीव की लोकान्त पर्यन्त ही अविग्रह गति क्यों होती है? तो इस विषय में जैन ग्रंथों में चार हेतु और उनकी पुष्टि में चार उदाहरण दिये गये हैं।[२]

१. **पूर्वप्रयोग**-पूर्वबद्ध कर्मों से मुक्त होने पर जो वेग उत्पन्न होता है, उससे मुक्तात्मा ऊर्ध्वगमन करती है। जैसे कुंभकार के द्वारा घुमाया गया चक्र तीव्र वेग से घूमता है। दंड के हटा लेने पर भी वह पूर्वप्रयोग से फिरता ही रहता है। वैसे ही मुक्तात्मा भी पूर्वप्रयोगजन्य वेग से ऊर्ध्वगति करती है।

२. **संग का अभाव**- संगरहितता। प्रतिबंधक कर्म का संग-संबंध न रहने से, कर्मभाव-रहितता से मुक्तात्मा ऊर्ध्वगमन करती है। जैसे तुंबड़ी पर मिट्टी का लेप कर देने से भार के कारण वह पानी में नीचे चली जाती है, किन्तु मिट्टी का लेप दूर होते ही वह पानी के ऊपर आ जाती है। इसी प्रकार कर्मभार से दबी हुई आत्मा संसार में परिभ्रमण करती है, किन्तु उससे मुक्त होने पर लोक के अग्रभाग में अवस्थित होती है।

३. **बन्धच्छेद**-कर्मबंधन का छेदन होने से मुक्तात्मा ऊर्ध्वगति करती है। जैसे एरंडबीज कोश से मुक्त होने पर छिटक कर स्वतंत्र ऊर्ध्वगति करता है, वैसे ही मुक्तात्मा भी ऊर्ध्वगति करती है।

४. **गतिपरिणाम**-आत्मा स्वभावतः ऊर्ध्वगति करने वाली है।[३] अतः मुक्तात्मा ऊपर की ओर गमन करती है। जैसे निर्वात स्थिति में अग्नि की शिखा स्वभाव से ऊपर की ओर जाती है, वैसे ही मुक्तात्मा भी कर्ममल के दूर होते ही स्वभाव से ऊर्ध्वगमन करती है।

उक्त चार कारणों से मुक्तात्मा की लोकान्तपर्यन्त—सिद्धक्षेत्र तक अविग्रह गति होती है।

---

१. अविग्रहः जीवस्य। - तत्वार्थ सूत्र २।२८

२. (क) पूर्वप्रयोगादसंगत्वाद् बन्धच्छेदात्तथा गतिपरिणाच्च तद्गतिः। - *तत्वार्थ सूत्र १० ६*
(ख) तदनन्तमेवोर्ध्वमालोकान्तान् स गच्छति पूर्वप्रयोगसङ्गत्वबन्धच्छेदोर्ध्व गौरवे
कुलालचक्रडोलाया..... गति स्मृताः। - *तत्वार्थ राजवार्तिक*

३. विस्ससोड्ढ गइ। - *द्रव्यसंग्रह*

अब प्रश्न यह है कि मुक्तात्मा लोक के अन्त में अर्थात् सिद्धशिला पर पहुँच कर क्यों रुक जाती है, उस से आगे अलोकाकाश में क्यों नहीं चली जाती ? तो इसका उत्तर यह है कि जीव और पुद्गल के गमन करने में धर्मास्तिकाय द्रव्य निमित्त कारण होता है। अलोकाकाश में केवल आकाश ही है। वहाँ धर्मादि अन्य द्रव्य नहीं हैं। अतः धर्मद्रव्य के अभाव के कारण मुक्तात्मा का ऊर्ध्वगमन लोकान्त तक ही होता है, उसके आगे नहीं।[१]

मुक्तात्मा का परिचयः-

जिसका आकार प्रकार है, जो स्थूल है, उसका परिचय तो किसी विशिष्ट आकृति में दिया जा सकता है, किन्तु मुक्तात्मा के न तो स्थूल शरीर है और न ही इन्द्रियाँ आदि। वह तो अमूर्त है।[२] अतः उसे चर्म-चक्षुओं से देखा नहीं जा सकता[३] और न बुद्धि ही उसे ठीक तरह से ग्रहण कर पाती है। इसलिए शरीररहित (अमूर्त) मुक्तात्मा का परिचय निषेध परक शब्दों के अतिरिक्त अन्य शब्दों द्वारा दिया जाना संभव नहीं है। इस कारण निम्नलिखित वाक्य अमूर्त आत्मा के परिचायक हैं -

१. न दीर्घ है, २. न ह्रस्व है, ३. न वृत्त है, ४. न त्रिकोण है, ५. न चतुष्कोण है, ६. न परिमंडल है, ७. न काला है, ८. न नीला है, ९. न लाल है, १०. न पीला है, ११. न श्वेत है, १२. न सुगंधरूप है, १३. न दुर्गन्धरूप है, १४. न तिक्त है, १५. न कटुक है, १६. न कषाय है, १७. न अमल है, १८. न मधुर है, १९. न कठोर है, २०. न कोमल है, २१. न गुरु है, २२. न लघु है, २३. न शीत है, २४. न उष्ण है, २५. न स्निग्ध है,

---

१. धर्मास्तिकायाभावात्। - *तत्त्वार्थसूत्र १० ।८*

२. (क) अरूवी सत्ता- आचारांग ६ ।१ ।३३३
(ख) स्थानांग ४ ।१ ।२५२

३. (क) अपयस्स पयं णत्थि- आचारांग ६ ।१ ।३३२
(ख) नो इंदिया गेज्झ अमुत्त भावा। - *उत्तराध्ययन १४ ।१९*

२६. न रुक्ष है, २७. न काय है, २८. न संग है, २९. न रूह है, ३०. न स्त्री है, ३१. न पुरुष है, ३२. न नपुंसक है।[१]

वैदिक परंपरा में मुक्तामा के अमूर्तत्व को 'नेति नेति' कह कर व्यक्त किया गया है।

मुक्तात्मा की अवगाहना:-

देहावसान के समय मुक्तात्मा के आत्मप्रदेश जितनी ऊँचाई वाले शरीर में व्याप्त होते हैं, उतनी ऊँचाई में से तृतीय भाग न्यून करने पर जितनी ऊँचाई शेष रहती है, उतनी ऊँचाई में मुक्तात्मा के आत्मप्रदेश मुक्ति के क्षेत्र में व्याप्त रहते हैं।[२] मुक्ति के क्षेत्र में आत्मप्रदेश तीन प्रकार की ऊँचाई में विभक्त हैं।

१. **उत्कृष्ट ऊँचाई**-मुक्तात्मा की देह की ऊँचाई यदि पाँच सौ धनुष की हो, तो मुक्ति में उसके आत्मप्रदेश ३३३ धनुष और ३२ अंगुल की ऊँचाई में व्याप्त रहेंगे।

२. **मध्यम ऊँचाई**-मुक्तात्मा के शरीर की ऊँचाई यदि सात हाथ की हो, तो मुक्ति के क्षेत्र में उसके आत्मप्रदेश चार हाथ और सोलह अंगुल में व्याप्त रहेंगे।

३. **जघन्य ऊँचाई**- मुक्तात्मा की ऊँचाई यदि दो हाथ की हो, तो उसके आत्मप्रदेश मुक्तिक्षेत्र में एक हाथ और आठ अंगुल की ऊँचाई में व्याप्त रहेंगे।

उत्कृष्ट और जघन्य ऊँचाई के कथन के मध्य में यद्यपि समस्त मध्यम ऊँचाईयों का कथन स्वयमेव हो जाता है, फिर भी यहाँ मध्यम ऊँचाई का कथन विशेष अभिप्राय से किया गया है कि जघन्य से सात हाथ की ऊँचाई वाले तीर्थंकर ही मुक्त होते हैं और उनकी यह ऊँचाई मुक्तिक्षेत्र में तृतीय भाग न्यून होने पर चार हाथ सोलह अंगुल शेष रहती है। सामान्य केवलियों की अपेक्षा से तो मुक्तिक्षेत्र में मुक्तात्माओं के आत्मप्रदेशों की मध्यम अवगाहना अनेक प्रकार की है।

---

१. (क) से ण दीहे, ण हस्से, ण वट्टे, ण तंसे, ण चउरंसे, ण परिमण्डले, ण किण्हे, ण णीले, ण लोहिए, ण हलिद्दे, ण सुक्किले, ण सुरहिगंधे, ण दुरहिगंधे, ण तित्ते, ण कडुए, ण कसाए, ण अंबिले, ण महुरे, ण कक्खडे, ण मउए, ण गरुए, ण लहुए, ण सीए, ण उण्हे, ण णिद्धे, ण लुक्खे, ण काए, ण रुहे, ण संगे, ण इत्थी, ण पुरिसे, ण अन्नहा, परिण्ण सण्णे।
- आचारांग ३ ।१ ।३३१

(ख) बृहदारण्यक उपनिषद् ३ ।८ ।८ में भी इसी तरह का वर्णन किया गया है।

२. दीहत्तं वाहल्लं, चरिम भवे जस्स जादिसं ठाणं। तत्तो तिभाग हीणं, ओगाहण सव्व सिद्धाणं॥
- तिलोयपण्णत्ति ९ ।१०

मुक्त होने पर भी संसार जीवों से रिक्त नहीं है:—

मुक्तिक्षेत्र में अनन्त काल से अनन्त आत्माएँ अवस्थित हैं और मानवक्षेत्र में से एक समय में जघन्यतः एक और उत्कृष्टतः एक सौ आठ आत्माएँ मुक्त होती हैं। इस तरह अनेक आत्माएँ कर्ममुक्त होकर मुक्तिक्षेत्र में पहुँचती रहती हैं, किन्तु मुक्त आत्माएँ मुक्ति क्षेत्र से प्रत्यावर्तित हो कर मानवक्षेत्र में कभी नहीं आतीं। इस पर अल्पज्ञ मन में यदा कदा यह आशंका उभर आती है कि अनन्त काल से मुक्त आत्माएँ मुक्तिक्षेत्र में जा रही हैं और प्रत्यावर्तन करके कभी कोई आत्मा यहाँ आयेगी ही नहीं, तो क्या यह संसार जीवों से रिक्त नहीं हो जायेगा? इस आशंका का समाधान जैनागमों में इस प्रकार किया गया है-

काल अनन्त है- अतीत भी और अनागत भी। आत्माएँ अनन्त हैं। अनन्त अतीत में भी जब यह संसार आत्माओं से रिक्त नहीं हुआ, तो अनन्त अनागत में भी वह कैसे रिक्त होगा? जिस प्रकार अनागत का एक समय वर्तमान बन कर अतीत बन जाता है, किन्तु अनागत कभी समाप्त नहीं होता। उसी प्रकार संसार आत्माओं से रिक्त नहीं होगा। अर्थात् अनन्त की यही तो अनन्तता है कि उस में कितनी ही वृद्धि ह्रास हो, वह अपनी इयत्ता का कभी अतिक्रमण नहीं करता। अनन्त आत्माओं के अनन्तत्व में न तो किसी प्रकार का अन्तर आने वाला है और न ही संसार आत्माओं से रिक्त होगा।

मुक्तात्माओं का पुनरागमन क्यों नहीं

मुक्तात्माओं का मुक्तिक्षेत्र से प्रत्यार्वतन हो कर पुनः मानवक्षेत्र में न आने का कारण यह है कि जिस प्रकार संशोधित शुद्ध सुवर्ण पुनः कीटकालिमा से कलंकित नहीं होता, उसी प्रकार जो आत्मा एक बार कर्मों से रहित हो चुकी है, वह पुनः कर्मों से संयुक्त नहीं होती। दूसरी बात यह है कि जैसे बीज के पूर्णतया जल जाने पर उससे अंकुर उत्पन्न नहीं होता, वैसे ही कर्म बीज के भस्म हो जाने पर भवांकुर भी उत्पन्न नहीं होता।[१] जब संसार के कारणभूत हेतुओं का अभाव ही हो गया, तो 'पुनरपि मरणं पुनरपि जननी जठरे शयनं' रूप संसार कार्य के सद्भाव की संभावना कैसे की जा सकती है? 'मूलाभावे कुतः शाखा?' 'कारणाभावे कार्याभावः' जैसी लोकोक्तियाँ इसी ओर तो संकेत करती हैं।

---

१. यथा दग्धानां बीजानां, न जायन्ते पुनरंकुराः।
कर्मबीजेषु दग्धेषु, न जायन्ते भवांकुराः॥ - *सूत्रकृतांग टीका*

मोक्ष अभावात्मक नहीं है:—

मोक्ष में न तो आत्मा का अभाव होता है और न ही वह ज्ञानशून्य अचेतन हो जाती है, क्योंकि स्वरूपलाभ का नाम ही मोक्ष है, जो कि अन्तर्मल का सर्वथा क्षय होने पर प्राप्त होता है। यह मोक्ष प्रत्यक्ष नहीं है, परोक्ष है, इसलिए कोई मोक्ष की सत्ता में शंका कर सकता है। किन्तु आगम और अनुमान प्रमाण से मोक्ष की सत्ता सिद्ध होती है। आचार्य विद्यानंद कहते हैं-

परोक्षमपि निर्वाणमागमात् संप्रीत्यते।
निर्बाधाद् भावि सूर्य ग्रहणाकारभेदवत्॥

जिस प्रकार भविष्य में होने वाले सूर्यग्रहण, चन्द्रग्रहण आदि का ठीक ठीक ज्ञान ज्योतिषशास्त्र से हो जाता है कि अमुक दिन अमुक समय अमुक अंश में अमुकदेश में सूर्यग्रहण या चन्द्रग्रहण होगा, इसी प्रकार सर्वज्ञ प्रतिपादित आगम से मोक्ष का ज्ञान होता है।

अनुमान प्रमाण से भी मोक्ष के अस्तित्व का ज्ञान होता है। जैसे घूरे के घूमने से घटीयंत्र घूमता है। यदि बैल का घूमना रुक जाये, तो घूरे का घूमना रुक जाता है और घूरे के रुकने पर घटीयंत्र का घूमना भी बंद हो जाता है। उसी प्रकार कर्मोदय रूपी बैल के चलने पर ही चतुर्गतिरूप संसार-घूरे का चक्र चलता है और चतुर्गतिरूप घूरा ही अनेक प्रकार की शारीरिक, मानसिक आदि वेदनारूपी घटीयंत्र को घुमाता रहता है। कर्मोदय की निवृत्ति हो जाने पर चतुर्गति का चक्र रुक जाता है और उसके रुक जाने पर संसार रुपी घटीयंत्र का चलना भी बंद हो जाता है, क्योंकि कारण के अभाव में कार्य नहीं होता। इसी का नाम मोक्ष है। सारांश यह है कि समस्त दुःखों के अवसान एवं दुःख के हेतुभूत् कर्मों का विनाश हो जाने पर आत्मा की जो स्थिति बनती है, वही मोक्ष है। अतः उसे अभावरुप नहीं माना जा सकता।

मुक्तिक्षेत्र का स्वरूप व नाम :—

मानव क्षेत्र के मध्यलोक में और उसकी समश्रेणी में ही मानव मुक्त होता है। मुक्ति क्षेत्र लोक के ऊपर की ओर अग्रभाग में स्थित है। मानवक्षेत्र और मुक्ति क्षेत्र का आयाम-विष्कंभ समान है। दोनों की लंबाई-चौड़ाई पैंतालीस लाख योजन की है। मुक्तिक्षेत्र की परिधि मानवक्षेत्र के समान लंबाई-चौड़ाई से तिगुनी है। मुक्ति क्षेत्र की मोटाई मध्यभाग में आठ योजन की है और क्रमशः पतली होती जाती है। अन्तिम भाग में मक्खी के पंख से भी अधिक पतली है। यह शंख, अंकरत्न (स्फटिक मणि) और कुन्दपुष्प के समान श्वेत, निर्मल एवं शुद्ध है। यह उत्तान (सीधे खुले हुए) छत्र के समान आकार वाला है तथा सर्वार्थसिद्ध विमान से बारह योजन ऊपर

है और वहाँ से एक योजन ऊपर लोकान्त है।[1] यह क्षेत्र घनोदधिवात, घनवात और तनुवात इन तीनों वायुओं से युक्त (परिवेष्टित) है और इनमें से प्रत्येक वायु का बाहुल्य बीस बीस हजार योजन प्रमाण है। अतीत, वर्तमान और अनागत इन तीनों कालों में मुक्त होने वाली आत्माओं की स्वरूप से इसी मुक्तिक्षेत्र में स्थिति होती है।

मुक्तिक्षेत्र के आगमों में बारह सार्थक नाम बतलाये गये हैं।[2] वे इस प्रकार हैं-

१. **ईषत्**-रत्नप्रभादि अन्य नारकपृथ्वियों की अपेक्षा यह पृथ्वी छोटी है। इसीलिए इसका ईषत् यह सार्थक नाम है।

२. **ईषत्प्राग्भारा**-रत्नप्रभा आदि अन्य पृथ्वियों की अपेक्षा इसकी ऊँचाई (प्राग्भार) अल्प है। इसीलिए इसे ईषत् प्राग्भारा कहते हैं।

३. **तन्वी**—अन्य पृथ्वियों से यह पृथ्वी तनु (पतली) है। इस कारण इसे तन्वी कहा जाता है।

४. **तनुतन्वी**—विश्व में जितने तनु पदार्थ हैं, उन सब की अपेक्षा भी यह पृथ्वी अन्तिम भाग में पतली है। अतः यह तनुतन्वी है।

५. **सिद्धि**—इस क्षेत्र में पहुँच कर मुक्त आत्मा स्वरूप की सिद्धि प्राप्त कर लेती है, अतः इसे भी सिद्धि कहा जाता है।

६. **सिद्धालय**—मुक्त आत्माओं को सिद्ध कहा जाता है, क्योंकि मुक्त आत्माओं ने कर्मबंधन से सर्वथा मुक्त होने का परम पुरुषार्थ सिद्ध कर लिया है और उसे सिद्ध करने के अनन्तर यह क्षेत्र उनका आलय (निवासस्थान) बनता है। इसीलिए इसका नाम सिद्धालय है।

७. **मुक्ति**—जिन आत्माओं ने कर्मबंधन से सर्वथा मुक्ति प्राप्त कर ली है, जिनकी मुक्ति हो चुकी है, उन आत्माओं का ही आगमन इस क्षेत्र में होता है। इसलिए यह क्षेत्र भी मुक्ति है।

८. **मुक्तालय**—मुक्त आत्माओं का आलय (स्थान) होने से यह क्षेत्र मुक्तालय है।

---

१. उत्तराध्ययन ३६। ५८ - ६२

२. प्रज्ञापना २। २११

९. **लोकाग्र**—लोक के अग्र भाग में स्थित होने से यह क्षेत्र लोकाग्र है।

१०. **लोकाग्र-स्तूपिका**—यह क्षेत्र लोक की स्तूपिका (शिखर) के समान है।

११. **लोकाग्रप्रतिवाहिनी**—लोक के अग्र भाग ने इस पृथ्वी का वहन किया है, अतः यह लोकाग्रप्रतिवाहिनी है।

१२. **सर्व प्राणभूतजीवसत्त्व सुखावहा**-चतुर्गति के जीव एक भव या अनेक भव करके इस मुक्तिक्षेत्र को प्राप्त करते हैं और वे वहाँ शाश्वत सुख में लीन रहते हैं। अतः यह सर्वप्राणभूतजीवसत्त्वसुखावहा है।

इस प्रकार मोक्ष, मुक्त-आत्मा और मुक्तिक्षेत्र के विषय में संक्षिप्त संकेत करने के पश्चात् अब मोक्षमार्ग का चिन्तन करते हैं, जिस पर चल कर अपने लक्ष्य को-मोक्ष को प्राप्त किया जा सकता है।

मोक्षमार्गः-

जिस प्रकार चिकित्साक्षेत्र में रोग, रोगहेतु, आरोग्य और औषधि इन चार बातों को जानना परम आवश्यक है, उसी प्रकार आध्यात्मिक साधनापद्धति में भी संसार, संसारहेतु, मोक्ष और मोक्षोपाय इन चार का ज्ञान परम आवश्यक है।

संसार और संसार हेतुओं का पूर्व में विस्तार से एवं मोक्ष का संक्षेप में विवेचन किया जा चुका है। प्रासंगिक होने से अब मोक्षोपाय का विचार करते हैं।

मानवक्षेत्र से मुक्तिक्षेत्र में पहुँचने का मार्ग, उपाय या साधन एक है या अनेक ? इस जिज्ञासा का समाधान करने के लिए जैनागमों में दो विवक्षाएँ हैं-निश्चय और व्यवहार या संक्षेप और विस्तार। संक्षेप का मार्ग एक है। वह है क्षायिकभाव। ज्ञान, दर्शन आदि शुद्ध आत्मिक भावों की प्राप्ति, परम आत्मदर्शन और विस्तार या व्यवहार विवक्षा से सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन, सम्यक् चारित्र और सम्यक् तप।[१] तपश्चर्या सम्यक्-चारित्र का ही एक अंग है। अतः ज्ञान, दर्शन और चारित्र की समवेत साधना ही मुक्ति का एक मात्र मार्ग है। इसीलिए आचार्य उमास्वाति ने कहा है—सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्राणि मोक्षमार्गः।[२]

दर्शन, ज्ञान और चारित्र के साथ जो सम्यक् विशेषण प्रयुक्त हुआ है, वह विलक्षण एवं साभिप्राय प्रयोग है। इस प्रकार का प्रयोग केवल जैनशास्त्रों में ही

---

१. नाणं च दंसणं चेव, चरित्तं च तवो तहा। एस मग्गो त्ति पण्णत्तो, जिणेहिं वरदंसिहिं ॥

- *उत्तराध्ययन २८। ३*

२. तत्त्वार्थसूत्र १। १

देखा गया है। मुक्ति का मार्ग केवल दर्शन नहीं, ज्ञान नहीं, चारित्र नहीं, अपितु सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र है। क्योंकि दर्शन, ज्ञान और चारित्र ये तीनों सम्यक् भी होते हैं और मिथ्या भी। मिथ्यादर्शनादि संसार के कारण होते हैं और सम्यग्दर्शनादि मोक्ष के। अतः मिथ्या-अयथार्थ श्रद्धान, ज्ञान और चारित्र (आचार) से विहीन केवल श्रद्धा आदि की स्वपक्ष की तरह विपक्ष में भी वृत्ति रहने के कारण व्यभिचार दोष (युक्त) है। अतः उक्त दोष निवृत्यर्थ दर्शन आदि तीनों के साथ 'सम्यक्' विशेषण का प्रयोग किया गया है और वे रत्नत्रय जैसे सम्माननीय पद अभिधेय हैं। सम्यग्दर्शन का ज्ञान और क्रिया में समावेश करने पर ज्ञान और क्रिया मोक्ष के साधन हैं।[१]

सम्यग्दर्शन-अपने अपने स्वभाव में स्थित तत्त्वार्थ के श्रद्धान को सम्यग्दर्शन कहते हैं।[२] अथवा मिथ्योदयजनित विपरीत अभिनिवेश से रहित पंचास्तिकाय, षड्द्रव्य, जीवादि सात या नौ तत्त्व का यथातथ्य श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है।[३] अथवा दर्शन मोहनीय कर्म के उपशम, क्षय या क्षयोपशमरूप अन्तरंग कारण से जो तत्त्वार्थ श्रद्धान होता है, उसे सम्यग्दर्शन कहते हैं।[४] इस अन्तरंग कारण की पूर्णता कहीं निसर्गतः (स्वभावतः) होती है और कहीं अधिगम (परोपदेश) से होती है।[५]

सामान्यपेक्षा सम्यग्दर्शन एक है, निसर्गज और अधिगमज के भेद से दो प्रकार का है, औपशमिक, क्षायिक और क्षायोपशमिक के भेद से तीन प्रकार का है, शब्दों की अपेक्षा से संख्यात प्रकार का तथा श्रद्धान करने वालों की अपेक्षा से असंख्यात प्रकार का है और श्रद्धान योग्य पदार्थों एवं अध्यवसायों की अपेक्षा से अनन्त प्रकार का है।

जिसकी दृष्टि सम्यक् (आत्मस्वरूप-चिन्तनपरक) है, वह सम्यग्दृष्टि है। उसके दर्शन, ज्ञान, चारित्र ही सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक् चारित्र कहलाते हैं।

---

१. नाणकिरियाहि मोक्खो।- विशेषावश्यक-भाष्य गाथा ३

२. तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्। - तत्त्वार्थसूत्र १।२

३. पंचास्तिकाय तात्पर्यवृत्ति १०७।१६९।२४

४. प्रणिधान विशेषहितद्वैविध्यजनित व्यापारं तत्त्वार्थ श्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्।
- *तत्त्वार्थ राजवार्तिक*

५. तन्निसर्गादधिगमाद्वा।- तत्त्वार्थसूत्र १।३

सम्यग्ज्ञान-प्रमाण और नय के द्वारा जीवादि सात तत्त्वों के संशय, विपर्यय और अनध्यवास से रहित यथार्थ ज्ञान को सम्यग्ज्ञान कहते हैं।[१] मति, श्रुत, अवधि, मनः पर्याय और केवल ये सम्यग्ज्ञान के पाँच भेद हैं।[२] मन और इन्द्रियों की सहायता अपेक्षित होने से मतिज्ञान और श्रुतज्ञान परोक्ष[३] और परनिरपेक्ष, आत्मा से उत्पन्न होने के कारण अवधि, मनःपर्याय और केवलज्ञान, प्रत्यक्ष[४] कहलाते हैं। मति, श्रुत और अवधि ये तीन ज्ञान मिथ्या भी होते हैं।[५] और सम्यक् भी होते हैं, किन्तु शेष दो-मनः पर्याय और केवलज्ञान सम्यक् ही होते हैं। क्योंकि मिथ्यात्व के कारणभूत मोहनीय कर्म का अभाव होने से वे विशुद्ध आत्मा में ही संभव हैं। मतिज्ञान और श्रुतज्ञान सभी संसारी जीवों (सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि) में पाये जाते हैं और अवधिज्ञान के भवप्रत्यय और गुणप्रत्यय इन दो प्रकारों में से पहला देव और नारकों तथा चरम शरीरी तीर्थंकरों में और दूसरा मनुष्य और तिर्यंचों में संभव है। मिथ्यादृष्टि के मति, श्रुत और अवधि क्रमशः मत्यज्ञान, श्रुताज्ञान और विभंगज्ञान कहलाते हैं। मनः पर्याय और केवलज्ञान सम्यग्दृष्टि मनुष्य के ही होते हैं।

सम्यक् चारित्र- अशुभ से निवृत्ति और शुभ कार्यों में प्रवृत्ति होना सम्यक् चारित्र है।[६] अथवा संसार के कारणभूत राग-द्वेष आदि की निवृत्ति के लिए ज्ञानवान पुरुष का शरीर और वचन की बाह्य क्रियाओं से तथा अभ्यन्तर मानसिक क्रियाओं से विरत होना सम्यक् चारित्र है।[७] यह सम्यग्ज्ञान पूर्वक ही होता है, किन्तु सम्यग्ज्ञान भी बिना सम्यग्दर्शन के नहीं होता। इसलिए सम्यक्त्व के बिना सम्यक् चारित्र भी संभव नहीं है। सम्यक् चारित्र में सम्यक् विशेषण अज्ञानपूर्वक आचरणनिवृत्ति के लिए दिया है।

---

१. प्रमाणनय विकल्पपूर्वको जीवाद्यर्थ याथात्म्यावगमः सम्यग्ज्ञानम्।- तत्त्वार्थ राजवार्तिक

२. मतिश्रुतावधिमनःपर्यायकेवलानि ज्ञानम्।- तत्त्वार्थसूत्र १।९

३. आद्ये परोक्षम्। - तत्त्वार्थसूत्र १।११

४. प्रत्यक्षमन्यत्।- तत्त्वार्थसूत्र १।१२

५. मतिश्रुतावधयो विपर्ययश्च।- तत्त्वार्थसूत्र १।३२

६. असुहादो विणिवित्ति सुहे पवित्ति य जाण चारित्तं। - *द्रव्यसंग्रह* ४५

७. संसारकारणविनिवृत्ति प्रत्यागुणस्य ज्ञानवतो बाह्याभ्यन्तरक्रियाविशेषो परमः सम्यक् चारित्रम्॥ - *सर्वार्थ सिद्धि* १।१

सामान्य से चारित्र एक प्रकार का है। अर्थात् चारित्रमोह के उपशम, क्षय व क्षयोपशम से होने वाली आत्मविशुद्धि की दृष्टि से चारित्र एक है। बाह्य व अभ्यन्तर निवृत्ति अथवा निश्चय-व्यवहार की अपेक्षा से चारित्र दो प्रकार का है। औपशमिक, क्षायिक, और क्षायोपशमिक अथवा उत्कृष्ट, मध्यम व जघन्य के भेद से चारित्र तीन प्रकार का है तथा चार प्रकार के यति की अपेक्षा से या चातुर्याम की अपेक्षा से अथवा छद्मस्थों का सराग और वीतराग तथा सर्वज्ञों का सयोग और अयोग इस तरह वह चार प्रकार का है। सामायिक, छेदोपस्थापनीय, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्म संपराय और यथाख्यात के भेद से वह पाँच प्रकार का है। इसी तरह विविध निवृत्तिरूप परिणामों की दृष्टि से चारित्र संख्यात, असंख्यात और अनन्त विकल्प-रूप है।

साधनों की पूर्णता:—

इन तीन साधनों की पूर्णता क्रम से होती है। सर्व प्रथम सम्यग्दर्शन तदनन्तर सम्यग्ज्ञान और अन्त में सम्यक् चारित्र पूर्ण होता है। इनमें से यदि एक भी साधन न हो अथवा एक की भी अपूर्णता हो, तो मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती। तेरहवें गुणस्थान के प्रारंभ में यद्यपि सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान पूर्ण हो जाते हैं, फिर भी सम्यक् चारित्र की पूर्णता चौदहवें गुणस्थान में होती है। यद्यपि चारित्रमोहनीय का अभाव हो जाने से बारहवें गुणस्थान में चारित्र की पूर्णता प्राप्त है, तथापि चारित्र की पूर्णता केवल चारित्रमोहनीय के अभाव से न हो कर योग और कषाय के अभाव से होती है। बारहवें गुणस्थान में कषाय का अभाव हो गया, लेकिन अभी योग का सद्भाव है और वह तेरहवें गुणस्थान के अन्त तक बना रहता है। इसलिए तेरहवें गुणस्थान में भी चारित्र को अपूर्ण माना गया है।

उक्त तीनों साधनों में से सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान में साहचर्य संबंध है। जिस समय दर्शनमोह के उपशम या क्षयोपशम से मिथ्यादर्शन की निवृत्ति होने से सम्यग्दर्शन होता है, उसी समय मिथ्याज्ञान की भी निवृत्ति हो कर सम्यग्ज्ञान हो जाता है। जैसे आकाश में मेघपटल के दूर होने पर सूर्य के प्रताप और प्रकाश एक साथ प्रकट हो जाते हैं, वैसे ही सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान भी एक साथ ही प्रकट होते हैं। इसीलिए इन्हें सहचारी कहा गया है। किन्तु सम्यक् चारित्र की स्थिति अनियत है। अर्थात् सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान के साथ सम्यक् चारित्र हो भी सकता है और नहीं भी। किसी में सम्यग्दर्शन और ज्ञान के साथ ही चारित्र प्रकट होता है और किसी में सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान प्रकट होने के कुछ समय बाद सम्यक् चारित्र प्रकट होता है।

सम्यग्दर्शन आदि तीनों में लाक्षणिक भिन्नता होने से पार्थक्य है। इससे यह नहीं समझना चाहिये कि मोक्ष के मार्ग तीन है, किन्तु सम्यग्दर्शन आदि तीनों का एकत्वही मोक्षमार्ग है। इन तीनों का एकत्व होने पर आत्मा निःशेष रूप से द्रव्य कर्म और भावकर्म से सर्वथा रहित हो जाती है।

एकत्व आवश्यक क्यों ?

अब प्रश्न यह है कि मोक्षप्राप्ति के लिए सम्यग्दर्शन आदि तीनों का एकत्व क्यों आवश्यक है ? इसके लिए हमें रोगोपचार-प्रणाली पर दृष्टिपात करना पड़ेगा। जिस प्रकार रोगी को निरोग होने के लिए औषधि का श्रद्धान, ज्ञान और आचरण तीनों आवश्यक हैं। तीनों में से एक के बिना भी उसका रोग दूर नहीं हो सकता। इसी प्रकार भवरोगी केलिए संसाररोग से मुक्त होने के लिए भी सम्यग्दर्शन आदि तीनों का एकत्व आवश्यक है। सिर्फ दर्शन और चारित्र का अभाव होने के कारण ज्ञान मात्र से, ज्ञान और क्रिया रूप अनुष्ठान के कारण श्रद्धानमात्र से तथा ज्ञान और श्रद्धान के अभाव के कारण क्रियामात्र से मोक्ष नहीं होता। इसीलिए मोक्ष के लिए सम्यग्दर्शन आदि तीनों का एकत्व अनिवार्य है। इसी बात की ओर संकेत करते हुए जैनाचार्यों ने कहा भी है-

हतं ज्ञानं क्रियाहीनं, हता चाज्ञानिनां क्रिया।
धावन् किलान्धको दग्धः, पश्यन्नपि च पंगुलः॥
संयोगमेवेह वदन्ति तज्ज्ञाः, न ह्येकचक्रेण रथः प्रभाति।
अन्धश्च पंगुश्च वने प्रविष्टौ, तौ सम्प्रयुक्तौ नगरं प्रविष्टौ॥

-तत्त्वार्थ राजवार्तिक

आचरणरहित ज्ञान और अज्ञानियों का आचरण भी व्यर्थ है। जैसे किसी वन में आग लगने पर अंधा आदमी दौड़ता हुआ भी और लंगड़ा आदमी देखता हुआ भी जल जाता है। यह सब कैसे हुआ ? संयोग के अंभाव में ही यह दुर्गति हुई, ऐसी स्थिति बनी। एक चक्र से रथ नहीं चलता। उसके दोनों ओर चक्र चाहिये। तभी रथ चलता है। इसी प्रकार अंधा और लंगड़ा दोनों यदि परस्पर मिल जायें, तो लंगड़ा अंधे के कंधे पर बैठ कर अंधे को मार्गदर्शन करा सकता है और इस प्रकार वे दोनों आग से दूर सुरक्षित नगर में प्रवेश कर सकते हैं।

सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र के एकत्व पर मनोविज्ञान की दृष्टि से विचार करें, तो ज्ञात होता है कि इनमें तीनों मानसिक शक्तियों का समायोजन किया गया है- ज्ञान, इच्छा तथा क्रिया। मुक्ति प्राप्ति के लिए मन के तीनों घटक तत्त्वों के बीच पूर्ण सामंजस्य एवं तालमेल आवश्यक है। केवल ज्ञान या इच्छा या क्रिया से कार्य में

सफलता नहीं मिलती। यह बात ऊपर के दृष्टान्त से भलीभाँति समझ में आ जाती है।

इस प्रकार जैन दर्शन की दृष्टि से मुक्ति, मुक्तिस्थान और मुक्ति के साधनों पर विचार करने के अनन्तर अब वैदिक और बौद्ध दर्शनों का दृष्टिकोण प्रस्तुत करते हैं।

वैदिक दर्शनों की मोक्षविषयक सामान्य दृष्टिः-

न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, मीमांसा और वेदान्त ये सभी आत्मवादी दर्शन इस बात में तो सहमत हैं कि मुक्तावस्था में लेशमात्र भी दुःख नहीं है। वहाँ केवल सुख ही सुख है। फिर भी उन्होंने अपने अपने दृष्टिकोण से मोक्षतत्त्व पर विचार किया है। इसीलिए न्याय-वैशेषिक दर्शनों ने मोक्ष का यह स्वरूप बतलाया है कि दुःखों की आत्यंतिक निवृत्ति हो जाना मोक्ष है। सांख्य-योग दर्शन में विवेकख्याति होने पर पुरुष का प्रकृति के पंजे से मुक्त हो कर अपने स्वरूप में अवस्थित हो जाना मोक्ष माना गया है।

पूर्व मीमांसा ने मोक्ष का स्वरूप निर्धारित करते हुए कहा है कि त्रिविध बंधनों (योगायतन-शरीर, योग, साधन, इन्द्रियाँ और भोग विषयक समस्त जागतिक पदार्थ) से छुटकारा पा लेना ही मोक्ष है। वेदान्त दर्शन (उत्तर मीमांसा) में जीव और ब्रह्म के तादात्म्य को मुक्ति कहा गया है।

इस प्रकार सभी वैदिक दर्शनों ने अपने अपने दृष्टिकोण से मोक्ष का स्वरूप और तदनुरूप ही उसकी प्राप्ति के साधनों-कारणों का विचार किया है। उसका स्पष्टीकरण यथास्थान उन उन दर्शनों के वर्णन में किया जा रहा है।

न्याय-वैशेषिक दर्शनः-

न्यायदर्शन के आद्य प्रवर्त्तक अक्षपाद गौतम और वैशेषिक दर्शन के प्रणेता कणाद हैं। नैयायिक प्रमाण, प्रमेय आदि सोलह तत्त्व और वैशेषिक द्रव्य, गुण आदि छह और अभाव ये सात पदार्थ मानते हैं। अभाव का ये स्वतंत्र अस्तित्व मानते हैं। नैयायिकों ने प्रमेयतत्त्व के भेदों में और वैशेषिकों ने द्रव्य के भेदों में आत्मा की गणना की है। इस तरह दोनों आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार करते हैं। दोनों की दृष्टि में आत्मा एक नहीं, अनेक हैं।

जितने शरीर हैं, उतनी ही आत्माएँ हैं। यदि एक ही आत्मा होती, तो विराट विश्व में जो विभिन्नता दिखाई देती है, वह नहीं दीखती। इसी प्रकार आत्मा कूटस्थ नित्य है। दोनों ही आत्मा को चेतन व प्रत्यक्ष नहीं, किन्तु अनुमानगम्य व अमूर्त्त मानते हैं तथा बुद्धि, सुख-दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न आदि उसके गुण हैं, पर चेतना

आदि आत्मा के स्वभाविक गुण नहीं, अपितु आगन्तुक औपाधिक गुण हैं। ये समवाय संबंध से रहते हैं।

इस विषय में उनकी युक्ति यह है कि यदि ज्ञान आदि और आत्मा को एक माना जाये, तो दुःखजन्य प्रवृत्ति, दोष और मिथ्याज्ञान के नाश होने पर आत्मा के विशेष गुणों का उच्छेद होने से आत्मा का भी अभाव हो जाना चाहिये।[१] जब तक शरीर, इन्द्रिय, मन आदि का संबंध रहता है, तब तक उनके द्वारा उत्पन्न ज्ञान आत्मा को होता है। ऐसे ज्ञान को धारण करने की शक्ति चेतन में है। परन्तु वे ऐसा कोई स्वाभाविक गुण आत्मचेतन में नहीं मानते हैं, जो शरीर, इन्द्रिय, मन आदि का संबंध न होने पर भी ज्ञानगुणरूप में या विषयग्रहणरूप में आत्मा में रहता हो। लेकिन न्याय-वैशेषिक दर्शन की इस कल्पना से अन्य वैदिक दर्शन सहमत नहीं हैं। सांख्य, योग एवं आचार्य शंकर, रामानुज, मध्व, वल्लभ आदि जितनी भी वेद और उपनिषद पर आधारित वैदिक धाराएँ हैं, वे इस बात को स्वीकार नहीं करतीं।

न्याय-वैशेषिक दर्शन में दुःख के अत्यन्त विमोक्ष को मोक्ष कहा है।[२] यह दुखों से आत्यन्तिक निवृत्ति रूप है। दुःखों की ऐसी निवृत्ति- नाश, कि भविष्य में पुनः उनके होने की संभावना ही नहीं रहती। वह उस समय न तो शुद्ध आनन्द का अनुभव कर सकती है और न ही शुद्ध चैतन्य का। आनन्द और चैतन्य ये दोनों ही आत्मा के आकस्मिक गुण हैं और मुक्तावस्था में आत्मा सभी आकस्मिक गुणों का परित्याग कर देती है। जिससे निर्गुण होने के कारण आनन्द और चैतन्य भी मुक्तावस्था में उसके साथ नहीं रहते। संपूर्ण गुणों से रहित हो कर वह अपने ही स्वरूप में अवस्थित रहती है।[३]

न्याय भाष्यकार आचार्य वात्स्यायन इसका स्पष्टीकरण करते हुए लिखते हैं कि जब तत्त्वज्ञान के द्वारा मिथ्याज्ञान नष्ट हो जाता है, तब उसके परिणाम स्वरूप राग, द्वेष, मोह आदि सभी दोष दूर हो जाते हैं। दोष नष्ट होने से मन, वचन, काय की शुभाशुभ रूप कर्म करने की प्रवृत्ति भी नष्ट हो जाती है। कर्मप्रवृत्ति समाप्त हो जाने से जन्म मरण के चक्र रुक जाते हैं और उनके रुकने से दुःखों की आत्यंतिक निवृत्ति

---

१. स्याद्वादमंजरी पृष्ठ ५२

२. (क) तदत्यन्तविमोक्षोऽपवर्गः। - *न्यायसूत्र १।१।२२*

(ख) चरमदुःखध्वंस-मोक्षः। - *तर्कदीपिका*

३. न्यायमंजरी पृष्ठ ५०८।

हो जाती है।[1] न्यायवार्तिककार ने भी मोक्ष को सभी दुःखों का अभावरूप कहा है। मोक्ष में बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म और संस्कार इन नौ गुणों का आत्यंतिक उच्छेद हो जाता है।[2] इसीलिए मुक्तावस्था में भावात्मक चैतन्य या आनन्द मानने के लिए कोई आधार नहीं है। उनके मतानुसार मोक्ष नित्य या अनित्य ज्ञान, सुखरहित केवल द्रव्य रूप से आत्मतत्त्व की अवस्थिति है। फिर भी उनकी दृष्टि से मोक्ष इसलिए परम पुरुषार्थ है कि उसमें किसी भी प्रकार का दुःख और दुःख के कारण का अस्तित्व नहीं है। वे मोक्ष की साधना इसलिए नहीं करते कि उसके प्राप्त होने पर कोई चैतन्य के सुख जैसा साहत्यिक व शाश्वत गुणों का अनुभव होगा।

उक्त मत का फलितार्थ यह हुआ कि मुक्तिप्राप्ति याने स्वरूप की हानि। यही कारण है कि यह न्यायवैशेषिकी युक्ति न तो दार्शनिकों में, न अध्यात्म योगियों-भक्तों में और न काव्य-कलाकोविदों में सम्माननीय रमणीय स्थान प्राप्त कर सकी। सभी ने उपहासास्पद मानकर इसकी अपेक्षा की है।

दार्शनिक मल्लिषेण[3] ने लिखा है-यदि आत्मा मोक्ष में पाषाण के समान जड़ रूप ही रह जाती है, तो फिर ऐसे मोक्ष की आवश्यकता ही क्या है? कौन ऐसी मुक्ति प्राप्त करने का प्रयत्न करेगा? ऐसे मोक्ष से तो सांसारिक जीवन अधिक श्रेयस्कर है, जो दुःख से परिपूर्ण होने पर भी जहाँ कभी थोड़ा बहुत सुख तो मिलता रहता है। अतएव यह विचारणीय है कि समस्त सुखों का उच्छेद करने वाले मोक्ष को प्राप्त करना श्रेष्ठ है या संसार में रहकर न्यूनाधिक मात्रा में सुख का उपभोग करना अच्छा है। विद्वद्गण स्वयं इसका निर्णय करें।

कोई भगवान का भक्त तो न्याय-वैशेषिकों की मुक्ति प्राप्त करने की अपेक्षा रमणीय वृन्दावन में सियार बन कर रहना अधिक पसंद करता है, क्योंकि वैशेषिकी मुक्ति को प्राप्त करने की अपेक्षा वृन्दावन में सियार होने पर भी वहाँ खाने के लिए

---

१. तत्त्वज्ञानान्मिथ्याज्ञानापाये रागद्वेषमोहाख्या दोषा अपायान्त दोषापाये वाङ्मनः काय व्यापाररूपायाः शुभाशुभफलायाः प्रवृत्तेरपायः प्रवृत्त्येपाये जन्मपायः जन्मपाये एकविंशति-भेस्य दुःखस्यापायः
- *न्यायसूत्र १ /१ /२ पर भाष्य*

२. बुद्धि-सुखदुःखेच्छा-द्वेष-प्रयत्न-धर्माधर्म संस्काररूपाणां नव नावात्मनो वैशेषिक गुणानाम-त्यन्तोच्छेदो मोक्षः।
- *स्याद्वादमंजरी पृष्ठ ५२*

३. स्याद्वादमंजरी पृष्ठ ६३

श्यामल हरी दूर्वा एवं कालिन्दी का शीतल मंद पवन और पीने को पानी तो मिलेगा।[१]

कविवर्य श्रीहर्ष[२] तो उपहास की चरम सीमा तक पहुँच कर कहते हैं-गौतम ने बुद्धिमान पुरुषों के लिए जो ज्ञान-सुखादि से रहित शिलारूप मुक्ति का उपदेश दिया है, इससे उनका नाम शब्दतः ही नहीं अपितु अर्थतः भी यथार्थ है। क्योंकि वे केवल गौ अर्थात् बैल न हो कर गौतम (अतिशयेन गौः गौतम) विशिष्ट बैल हैं।

न्याय-वैशेषिक व्यावहारिक अनुभव के आधार पर यह समाधान करते हैं कि सच्चा साधक पुरुषार्थी मात्र अनिष्ट के परिहार के लिए प्रयत्न करता है। ऐसा अनिष्ट परिहार करना ही उसका सुख है। किन्तु मोक्षस्थिति में भावात्मक चैतन्य या आनन्द मानने के लिए कोई आधार नहीं है। उनके मतानुसार नित्य या अनित्य ज्ञान, सुखरहित केवल द्रव्यरूप से आत्मतत्त्व की स्थिति है।

सांख्य-योग दर्शनः-

सांख्य और योग ये दोनों पृथक् पृथक् दर्शन हैं। सांख्य दर्शन के आद्य प्रवर्त्तक महर्षि कपिल व योगदर्शन के व्यवस्थापक महर्षि पतंजलि माने जाते हैं। दोनों के अधिकांश सिद्धान्त समान ही हैं। मुख्य अन्तर यही है कि सांख्य पुरुष को अकर्त्ता मानता है और योग परमेश्वर को मान कर उसकी भक्ति पर विशेष बल देता है। इसीलिए योगदर्शन को ईश्वरवादी सांख्य कहते हैं तथा योगक्रिया पर विशेष बल देने के कारण योगदर्शन भी कहते हैं। किन्तु दोनों में अनेक बातों में समानता होने से यह कहा जा सकता है कि एक ही दार्शनिक सिद्धान्त के ये दो पहलू हैं। सांख्यदर्शन तत्त्वज्ञान पर अधिक भार देता हुआ तत्त्वों की खोज करता है और तत्त्वों के ज्ञान से ही मोक्ष मानता है, जब कि योग दर्शन यम, नियम आदि योग की अष्टांगी प्रक्रिया का विस्तृत वर्णन करके योग की प्रक्रियाओं के द्वारा चित्तवृत्ति निरोध होने से मोक्ष की सिद्धि स्वीकार करता है। सांख्य सैद्धान्तिक है, तो योग व्यावहारिक। दोनों दर्शनों में प्रकृति, पुरुष आदि पच्चीस तत्त्व समान रूप से माने गये हैं।

सांख्य पुरुष और प्रकृति इन दोनों को अलग अलग तत्त्व मानकर एक दूसरे से पूर्ण रूपेण भिन्न मानता है। इस दर्शन में जीव या आत्मा के लिए पुरुष शब्द का

---

१. वरं वृन्दावने रम्ये, श्रृगालत्वं वृणोम्हयहम्।
वैशेषिकोक्त मोक्षात्तु, सुखलेश विवर्जितात्॥ - *सर्वार्थसिद्धि की टीका में उद्धृत*

२. मुक्तये यः शिलात्वाय, शास्त्रमूचे सचेतसाम्।
गौतमं तमेव वक्ष्यैव.... वित्थ तथैव सः - *नैषध चरित्र १७ ।७५*

प्रयोग किया जाता है। पुरुष चेतन और प्रकृति जड़ है। सत्व, रज और तम इन तीनों की साम्यावस्था का नाम प्रकृति है। प्रकृति जब पुरुष के सान्निध्य में आती है, तो उस साम्यावस्था में विकार उत्पन्न होता है, जिसे गुणक्षोभ कहा जाता है। संसार के सभी जड़ पदार्थ प्रकृति से उत्पन्न होते हैं, किन्तु प्रकृति स्वयं किसी से उत्पन्न नहीं होती। पुरुष न तो किसी पदार्थ को उत्पन्न करता है और न स्वयं ही किसी अन्य पदार्थ से जन्य है। पुरुष अमूर्त्त है तथा चेतन, भोक्ता, नित्य, सर्वव्यापी, निष्क्रिय, अकर्त्ता, निर्गुण और सूक्ष्म है।[१]

बंध और मोक्ष ये दोनों प्रकृति की अवस्थाएँ हैं। इन अवस्थाओं का पुरुष में आरोप किया जाता है। जैसे अनन्त आकाश में स्वच्छन्द विहार करता हुआ जो पक्षी है, उसका प्रतिबिंब निर्मल जल में पड़ता है। जल में जो दिखाई देता है, वह केवल प्रतिबिंब है। वैसे ही प्रकृति के बंध और मोक्ष पुरुष में प्रतिबिंबित होते हैं।

सांख्य और योग पुरुष को एक नहीं, किन्तु अनेक मानते हैं। यह अनेकता संख्यात्मक है, गुणात्मक नहीं। पुरुष को अनेक मानने के लिए उनका मन्तव्य है कि यदि पुरुष एक ही है, तो एक पुरुष का मरण होने पर सबका मरण होना चाहिये। इसी प्रकार एक के बंध और मोक्ष के साथ सब का बंध और मोक्ष होना चाहिये। इसीलिए पुरुष एक नहीं अनेक हैं।न्याय-वैशेषिक दर्शन की तरह ये चेतना को आगन्तुक धर्म नहीं मानते। चेतना पुरुष का सार है और चरम ज्ञाता है। स्वरूप की दृष्टि से पुरुष चिद् अणुरूप है।

सांख्य दृष्टि से प्रकृति और पुरुष के संसर्ग का नाम ही संसार है। यही बंधन है और बंधन का कारण अविद्या या अज्ञान है। पुरुष का अपने वास्तविक स्वरूप को न जानना ही अज्ञान है। पुरुष स्वरूप से विस्मृत हो कर स्वयं को प्रकृति या उसकी विकृति समझने लगता है, यही सब से बड़ा अज्ञान है। जब तक प्रकृति और पुरुष में भेदविज्ञान नहीं होता, जब तक पुरुष यह नहीं समझता कि मैं प्रकृति से सर्वथा भिन्न हूँ, तब तक संसार की स्थिति है। प्रकृति और पुरुष में भेदविज्ञान होते ही पुरुष प्रकृति के संसर्गजन्य आध्यात्मिक, आधिभौतिक एवं आधिदैविक इन तीन प्रकार के दुःखों से छूट जाता है। यही मुक्ति है। बंध और मोक्ष प्रकृति के ही धर्म हैं, पुरुष के नहीं। इसीलिए, सांख्यकारिका के रचयिता ईश्वरकृष्ण ने कहा है-

---

१. अमूर्तश्चेतनो भोगी, नित्यः सर्वगतोऽक्रियः।
अकर्त्ता निर्गुणः सूक्ष्म, आत्मा कापिल दर्शने॥ - *स्याद्वादमंजरी पृष्ठ १३७*

पुरुष न तो बन्ध का अनुभव करता है, न मोक्ष का और न संसार का, किन्तु प्रकृति ही बंध, मोक्ष और संसार का अनुभव करती है।[१] पुरुष की मुक्ति के लिए ही प्रकृति का समस्त व्यापार होता है। जिस तरह अचेतन दूध की प्रवृत्ति बछड़े के लालन, पालन-पोषण व वृद्धि के लिए होती है, उसी तरह अचेतन प्रकृति की प्रवृत्ति भी पुरुष के मोक्ष के लिए ही होती है।[२] जिस प्रकार उत्सुकता या इच्छा की निवृत्ति के लिए पुरुष लौकिक क्रियाओं में प्रवृत्ति करता है,[३] उसी प्रकार प्रकृति तत्त्व पुरुष के मोक्ष के लिए प्रवृत्ति करता है। प्रकृति उस नर्तकी के समान है, जो रंगस्थल में उपस्थित दर्शकों के समक्ष अपनी कला को दिखाकर रंगस्थल से दूर हट जाती है। इसी प्रकार प्रकृति भी पुरुष को अपना व्यापार दिखा कर पुरुष के सामने से हट जाती है।[४] वस्तुतः प्रकृति से सुकुमारतर अन्य कोई दूसरा नहीं है। प्रकृति इतनी लजीली है कि एक बार पुरुष के द्वारा देखे जाने पर वह पुरुष के प्रति अपने व्यापार से विरत हो जाती है। वह उसके सामने नहीं आती, उससे संसर्ग नहीं करती।[५] पुरुष भी प्रकृति को देखने पर उसकी उपेक्षा करने लगता है। इसी प्रकार प्रकृति भी पुरुष द्वारा देखे जाने पर पुरुष से उदासीन, विरक्त हो जाती है। परिणामतः उस अवस्था में दोनों का संयोग होने पर भी सृष्टि का कोई प्रयोजन न रहने से सृष्टि नहीं होती।[६] अतः इस प्रकार प्रकृति और पुरुष के भेदविज्ञान का नाम ही मोक्ष है।

---

१. तस्मान्न बध्यते नापि मुच्यते नापि संसरति कश्चित्।
संसरति बध्यते मुच्यते च नानाश्रया प्रकृतिः॥ - *सांख्य कारिका ५२*

२. वत्स विवृद्धि निमित्तं, क्षीरस्य यथा प्रवृत्तिरज्ञस्य।
पुरुष विमोक्ष निमित्तं, तथा प्रवृत्ति प्रधानस्य॥ - *सांख्यकारिका ५७*

३. औत्सुक्यं निवृत्त्यर्थं, यथा क्रियासु प्रवर्तते लोकः।
पुरुषस्य विमोक्षार्थं, प्रवर्त्तते तद् तद् व्यक्तम्॥ - *सांख्यकारिका ५८*

४. रङ्गस्य दर्शयित्वा, विनिवर्तते नर्तकी यथा नृत्यात्।
पुरुषस्य तथात्मानं – प्रकाश्य विनिवर्तते प्रकृतिः। - *वही ५९*

५. प्रकृतेः सुकुमारतरं, न किञ्चिदस्तीति मे मतिर्भवति।
या दृष्ट स्मीति पुनर्न, दर्शनमुपैति पुरुषस्य॥ - *वही ६१*

६. दृष्टा मयेत्युपेक्षक, एको दृष्टाहमित्युपरमत्यन्या।
सति संयोगोऽपि तयोः, प्रयोजनं नास्ति सर्गस्य॥ - *वही ६५*

सांख्य दर्शन की एक विशेषता यह भी है कि ज्ञान और चैतन्य में भेद माना गया है। ज्ञान पुरुष का धर्म नहीं, अपितु प्रकृति का कार्य है। पुरुष का स्वरूप तो केवल चैतन्य मात्र है। इसलिए चैतन्य मात्र स्वरूप में अवस्थान को मोक्ष माना गया है-स्वरूपे चैतन्य मात्रेऽवस्थानं मोक्ष इति। सांख्यदर्शन में मोक्ष की स्थिति को कैवल्य भी कहा है।

तत्त्व समास में मोक्ष को तीन प्रकार का माना गया है-प्राकृतिक, वैकारिक और दाक्षिणिक। प्राकृतिक बंधनों से मुक्ति को प्राकृतिक मुक्ति कहा जाता है। प्रकृति के विकार इन्द्रिय, मन आदि के शासन से मुक्ति वैकारिक मुक्ति है और कर्मकांड के अस्थायी फल से विरति को दाक्षिणिक मुक्ति कहा गया है।

यों सांख्य की दृष्टि से मुक्ति मुख्यतः दो प्रकार की है-जीवनमुक्ति और विदेह मुक्ति। जीवनमुक्ति में संस्कार शेष रहते हैं और विदेहमुक्ति में संस्कार पूर्णतया मुक्त हो जाते हैं। विवेकख्याति से ही जीवनमुक्ति होती है। इसमें पूर्व जन्म के संस्कार शेष रहने से संशय की सत्ता तो बनी रहती है, किन्तु कैवल्य के अनुभव से किसी प्रकार की बाधा नहीं आती। जिस प्रकार कुम्हार डंडे से चाक को घुमाता है और डंडा हटा लेने पर भी वह चाक संस्कारवश घूमता रहता है, उसी प्रकार पुरुष भी तत्त्वज्ञान हो जाने के बावजूद पूर्व संस्कारों के शेष रहने से कुछ दिनों तक शरीर धारण किये रहता है, किन्तु विदेहमुक्ति में संस्कारों का सर्वथा ध्वंस हो जाता है। शरीरपात के बाद दुःख की आत्यंतिक निवृत्ति हो जाने पर विदेहमुक्ति हो जाती है।

योगदर्शन के अनुसार कैवल्य का अर्थ है-केवल उसी का होना। अर्थात् एकाकित्व का ही नाम कैवल्य है। केवल अपने रूप में ही हो जाना तथा किसी के साथ उसका संबंध न होना कैवल्य है। कैवल्य की व्याख्या करते हुए पातंजलि ने कहा है कि प्रकृति के कार्य महत् आदि के विलय होने से तथा पुरुष के साथ प्रकृति का आत्यंतिक वियोग होने से कैवल्य (एकाकित्व) सिद्ध होता है। इसी प्रकार समस्त औपाधिक स्वरूप को छोड़ कर अपने मूलरूप में स्थित हो जाना ही पुरुष का कैवल्य है।

मीमांसादर्शनः-

इस दर्शन की विधिवत् व्यवस्था जैमिनी ऋषि ने मीमांसासूत्र के रूप में की थी। अतः इसका नाम मीमांसादर्शन या जैमिनीयदर्शन है। यह दर्शन यज्ञयागादि विधिविधानपरक है। यह केवल उपनिषदों के पूर्ववर्ती वेदों को प्रमाण मानता है तथा ईश्वर को जगत्कर्त्ता मानता है। यह अनन्त आत्माओं को स्वीकार करता है तथा मोक्ष को आनन्दरूप नहीं मानता, क्योंकि निर्गुण आत्मा में आनन्द नहीं रह सकता।

मीमांसा दर्शन के अनुसार आत्मा का अपने से भिन्न विजातीय वस्तुओं से संबंध होना बंध है। बंधन के तीन प्रकार हैं-योगायतन-शरीर, योगसाधन-इन्द्रियाँ और योग विषय-समस्त जागतिक पदार्थ। आत्मा अनादिकाल से ही इन तीन बंधनों में पड़े रहने से अनेक प्रकार के कष्टों का अनुभव करती रहती है। इसे ही भवबंधन कहते हैं। भवबंधन के कारण ही मनुष्य जन्म-मरण के चक्र में घूमता है। फलतः वह सांसारिक बंधन से उद्विग्न हो कर मुक्ति चाहता है। इसीलिए मीमांसादर्शन में उक्त त्रिविध बंधनों से छुटकारा पा लेना ही मोक्ष माना गया है।

त्रिविधस्यापि बन्धनस्यात्यन्तिको विलयो मोक्षः।

मीमांसादर्शन कर्म को बन्धन का कारण मानता है। बन्धन कार्य है और कर्म कारण। कारण का नाश होने पर कार्य स्वतः नष्ट हो जाता है। बंधन रूप कर्म दो प्रकार का है—काम्य और निषिद्ध। काम्य कर्मों से पुण्य और निषिद्ध कर्मों से पाप उत्पन्न होता है। ये दोनों ही कर्मबंध के कारण हैं। इनका नाश हो जाने पर कर्मरूप बंधन स्वतः नष्ट हो जाता है। सांसारिक बंधनों से मुक्ति चाहने वाले को पुण्य-पाप कार्यों से ऊपर उठना आवश्यक है। इसके लिए केवल वेदविहित कर्म करना अनिवार्य है। वेदोक्त कर्मों के आचरण से शरीर का नाश होने पर पुनः नये शरीर में आत्मा का प्रवेश नहीं होता। आत्मा मुक्त हो कर अपने शुद्ध स्वरूप में अवस्थित हो जाती है।

वेदान्तदर्शनः-

ब्रह्मसूत्र के रचयिता बादरायण वेदान्तदर्शन के प्रवर्त्तक माने जाते हैं। बादरायण ने ब्रह्मसूत्र में समस्त उपनिषदों का सार संग्रहित किया है। अतः ब्रह्मसूत्र का अपर नाम वेदान्तसूत्र भी है। ब्रह्मसूत्र पर शंकर, भास्कर, रामानुज आदि अनेक आचार्यों ने भाष्यों की रचना की है। आचार्य शंकर ने अपने भाष्य में अद्वैत ब्रह्म की सिद्धि की है। वेदान्तदर्शन में अन्तःकरण संयुक्त ब्रह्म ही जीव है और ब्रह्म एक है, ऐसा माना गया है। जो कुछ भी हम देखते हैं, वह ब्रह्म का ही प्रपंच है, किन्तु ब्रह्म को कोई नहीं देखता है।[१] संसार के समस्त पदार्थ मायिक हैं। मायिक होने से ही उनकी सत्ता प्रतीत होती है। जब तक ब्रह्म का ज्ञान नहीं होता, तब तक ही संसार की सत्ता है। जैसे किसी पुरुष को रस्सी में सर्प का ज्ञान हो जाता है, किन्तु वह ज्ञान तब तक ही रहता है, जब तक कि 'यह रस्सी है, सर्प नहीं' इस प्रकार का सम्यग्ज्ञान नहीं होता। जिस प्रकार रस्सी में सर्प की कल्पित सत्ता रस्सी के विषय में सम्यग्ज्ञान

---

१. आरामं तस्य पश्यन्ति, न तत् पश्यति कश्चन। - *छांदोग्य उपनिषद ३।१४*

न होने तक ही रहती है, उसी प्रकार ब्रह्मज्ञान न होने तक ही संसार की सत्ता है और ब्रह्मज्ञान होते ही यह जीव अपनी पृथक् सत्ता को खो कर ब्रह्म में लीन हो जाता है। इस प्रकार जीव और ब्रह्म के तादात्म्य को मुक्ति कहा गया है। रामानुज के अनुसार मुक्तावस्था में यद्यपि जीव ब्रह्म में मिल जाता है, फिर भी उसका पृथक् अस्तित्व बना रहता है। वह अपने अस्तित्व को खो नहीं देता है।

चित्सुकाचार्य के मतानुसार परमानन्द का साक्षात्कार ही मोक्ष है-

आनंद ब्रह्मणो रूपं, तच्च मोक्षेऽभिव्यज्यते।

ब्रह्म या आत्मा का स्वरूप आनन्द है और मोक्ष में उस आनन्द की अभिव्यक्ति होती है।

पद्मपादाचार्य मिथ्याज्ञान के अभाव को मोक्ष कहते हैं।

वेदान्तदर्शन में जीवनमुक्ति व विदेहमुक्ति के रूप में मुक्ति के दो प्रकार माने गये हैं और इनकी व्याख्या उसने अपनी पद्धति से की है। उसका कहना है कि 'तत्त्वमसि' वाक्य के द्वारा जीव और ब्रह्म की एकता का ज्ञान हो जाने पर जब परब्रह्म का साक्षात्कार होता है, तब अज्ञान (अविद्या) और उसके कार्य का नाश हो जाने पर संचित संशय, विपर्यय आदि कर्म भी नष्ट हो जाते हैं। ऐसी स्थिति में ब्रह्मवेत्ता जीवित रहते हुए भी समस्त सांसारिक बंधनों से मुक्त हो जाता है। इस प्रकार का ब्रह्मनिष्ठ पुरुष 'जीवनमुक्त' और जीवनमुक्त पुरुष का शरीरपात होने पर वह विदेहमुक्त कहलाता है। विदेहमुक्ति या परममुक्ति होने पर पुरुष की जन्म-मरण रूप सांसारिक बंधनों से आत्यंतिक निवृत्ति हो जाती है।

चार्वाक दर्शनः-

न्याय-वैशेषिक आदि आत्मवादी वैदिक दर्शनों के मोक्ष विषयक दृष्टिकोण को प्रस्तुत करने के बाद अब अनात्मावादी चार्वाकदर्शन की मोक्ष संबंधी धारणा पर विचार करते हैं। आत्मा के अस्तित्व की तरह मोक्षसंबंधी विचार भी उसका अपना अनूठा है। उसका कहना है कि-

यावज्जीवेत् सुखं जीवेत्, ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्।
भस्मीभूतस्य देहस्य, पुनरागमनं कुतः ? ॥

अर्थात् जब तक जीओ, सुखपूर्वक जीओ। यदि सुखपूर्वक जीने के साधन न हों, तो ऋण लेकर भी घी-दूध आदि खाओ। अगले जन्म में ऋण चुकाने की चिन्ता करना व्यर्थ है, क्योंकि मृत्यु के बाद शरीर के भस्मीभूत हो जाने पर उसके पुनर्जन्म का प्रश्न ही कहाँ है ? क्योंकि पृथ्वी आदि चार या पाँच भूतों के संयोग से जो एक

शक्ति उत्पन्न होती है, उसी का नाम आत्मा है और जैसे ही शरीर बिखरा कि उसका नाश हो जाता है। इस बिखरने-मृत्यु का नाम ही मोक्ष है —मरणमेवापवर्गः।

जिस दर्शन में जीवन के अथ और इति के बीच ही आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार किया गया हो, उसमें मोक्ष के बारे में इससे अधिक और क्या चिन्तन किया जा सकता है? यही कारण है कि विद्वानों द्वारा इस दर्शन की सदैव उपेक्षा की जाती रही है।

वैदिक दर्शनों में मोक्ष–तुलनात्मक समीक्षाः-

पूर्व वर्णन से यह स्पष्ट हो जाता है कि जैन दर्शन की तरह आत्मवादी न्याय-वैशेषिक आदि सभी वैदिक दर्शनों ने मोक्ष को स्वीकार किया है, लेकिन उनमें इतनी विभिन्नताएँ हैं कि एक का विचार प्रस्तुतीकरण दूसरे से नहीं मिलता। इसका कारण यह है कि वेदों में तो मोक्ष के संबंध में कोई चर्चा नहीं की गयी है, लेकिन उत्तरकालीन उपनिषदों के आचार्यों ने आत्मा के विविध रूपों की कल्पना के अनुरूप अपने अपने दृष्टिकोण से उसके स्वरूप का चित्रण किया है।

यही कारण है कि सांख्ययोग सम्मत एवं न्यायवैशेषिक सम्मत मुक्ति के स्वरूप में अन्तर स्पष्ट प्रतिभासित हो जाता है। सांख्य का पुरुष नित्यमुक्त है, चेतन है। विवेकज्ञान उदय होने के पूर्व भी वह मुक्त था, पर विवेकज्ञान उदय होने के अनन्तर उसे यह अनुभव होता है कि वह तो कभी भी बंधन में नहीं पड़ा था, वह तो हमेशा मुक्त ही था, किन्तु उसे इस तथ्य का परिज्ञान न होने से अपने स्वरूप को विस्मृत कर स्वयं को प्रकृति या उसका अनुचर समझ रहा था।

लेकिन न्याय-वैशेषिक के अनुसार मोक्ष में आत्मा का अपना द्रव्यरूप होने पर भी वह स्वयं चेतनमय नहीं है। मुक्तदशा में भी चैतन्य की स्फुरणा या अभिव्यक्ति को अवकाश नहीं है, क्योंकि मुक्ति में बुद्धि, सुख-दुःख आदि का आत्यंतिक उच्छेद होने से आत्मा केवल कूटस्थ नित्य द्रव्यरूप में अवस्थित होती है। जबकि सांख्ययोग की दृष्टि से आत्मा सर्वथा निर्गुण है, प्रकाशमान चेतनरूप है एवं सहज भाव से अस्तित्व धारण करने वाली है। न्याय-वैशेषिक के अनुसार मुक्तदशा में चैतन्य और ज्ञान का अभाव है, तो सांख्य योग की दृष्टि से उसका सद्भाव है। यह दोनों में बहुत बड़ा अनन्तर है।

इस अन्तर को गौण करके यदि हम दोनों पक्षों की पारिभाषिक प्रक्रिया को देखें, तो तात्त्विक दृष्टि से दोनों के दृष्टिकोणों में कोई विशेष अन्तर नहीं है। क्योंकि न्याय-वैशेषिक शरीर, इन्द्रिय आदि संबंधों की दृष्टि से बुद्धि, सुख, इच्छा आदि गुणों का मोक्ष में अभाव और संसार में उन गुणों का अस्तित्व स्वीकार करते हैं।

सांख्ययोग सुख-दुःख, ज्ञान-अज्ञान, इच्छा-राग-द्वेष आदि भाव पुरुष में न मान कर अन्तः करण (जो प्रकृति का विकार है) में मानते हैं और जो उसकी छाया पुरुष में पड़ती है, वही आरोपित संसार है। इस कारण मुक्तावस्था में जब बुद्धि का उसके भावों के साथ प्रकृति में आत्यंतिक विलय होता है, तब पुरुष के व्यवहार में सुख-दुःख, इच्छा-द्वेष आदि भावों का और कर्तृत्व की छाया का भी निःशेष रूप से अभाव हो जाता है।

चौबीस तत्त्ववादी और पच्चीस तत्त्ववादी सांख्य परंपरा की बंध-मोक्ष की प्रक्रियाएँ पृथक् पृथक् हैं। पच्चीस तत्त्ववादी मोक्ष अवस्था में बुद्धि, सत्त्व और उसमें समुत्पन्न होने वाले सुख-दुःख, इच्छा-द्वेष, ज्ञान-अज्ञान आदि भावों का मूल कारण में निःशेषतया विलय मान कर मुक्त स्वरूप का वर्णन करता है। चौबीस तत्त्ववादी सांख्य और न्याय वैशेषिक की विचारधारा में बहुत अधिक समानता है। सांख्य की दृष्टि से मोक्ष अवस्था में प्रकृति के कार्यप्रपंच का अत्यन्त विलय होता है और न्याय वैशेषिक मुक्तिदशा में आत्मा के गुणप्रपंच का अत्यन्त अभाव स्वीकार करता है। प्रथम ने उसे कार्यप्रपंच कहा है और दूसरे ने गुणप्रपंच। दोनों के आत्मा के स्वरूप के संबंध में यत्किंचित अन्तर है, जो परिणामी नित्यत्व और कूटस्थ नित्यत्व के एकान्तिक परिभाषा भेद के कारण है।

न्याय-वैशेषिक गुण-गुणी में अत्यन्त भेद मानते हैं। जब गुण उत्पन्न होते हैं या नष्ट होते हैं, तब उसके उत्पाद-विनाश का स्पर्श उसके आधारभूत गुणी द्रव्य को नहीं होता। जो यह अवस्था भेद परिलक्षित होता है, वह गुणी का नहीं, अपितु गुणों का है। इसी प्रकार वे आत्मा को कर्ता, भोक्ता, बद्ध या मुक्त वास्तविक रूप में स्वीकार करते हैं। इसके अतिरिक्त अवस्थाभेद की अन्यान्य आपत्तियों को युक्तियों से निरावृत्त कर कूटस्थ नित्यता की मान्यता पर अडिग रहते हैं।

सांख्य-योगदर्शन न्याय-वैशेषिक के समान गुण-गुणी का भेद नहीं मानते। न्याय-वैशेषिक के समान गुणों का उत्पाद विनाश मान कर पुरुष के कूटस्थ नित्यत्व का बचाव नहीं किया जा सकता। अतः ये निर्गुण पुरुष मानने की ओर अग्रसर हुए।[१] कर्तृत्व, भोक्तृत्व, बंध, मोक्ष आदि अवस्थाएँ इन्होंने पुरुष में उपचरित मानी हैं और नित्यत्व पूर्णरूप से घटित किया है।

---

१. अनादित्वान्निर्गुणत्वात्, परमात्मायमव्यय।
शरीरस्थोऽपि कौन्तेय! न करोति न लिप्यते॥
यथा सर्वगतं सौक्ष्म्यादाकाशं नोपलिप्यते।
सर्वगाऽवस्थितो देहे तथात्मा नोपलिप्यते॥ - *गीता* १३।३१, ३२

वेदान्त दर्शन की विभिन्न शाखाएँ मुक्त दशा में चैतन्य और आनन्द का पूर्ण प्रकाश या आविर्भाव स्वीकार करती हैं और आत्मा को कूटस्थ नित्य भी मानती हैं। लेकिन आत्म-परिणाम के संबंध में इतनी विभिन्नताएँ हैं कि उन्हें वे अपनी दृष्टि से घटित करती हैं। जैसे आचार्य शंकर केवलाद्वैतवादी (ब्रह्मवादी) हैं और वे सर्वव्यापक ब्रह्म की कल्पना करते हैं, रामानुज अणुजीववादी हैं। भास्करीय वेदान्ती मुक्तावस्था में केवल आनन्द ही आनन्द मानते हैं और शंकर आत्मा का परमात्मा में लीन हो जाना, परमात्मा में एकमेक रूप से लय हो जाना मोक्ष मानते हैं। एक दृष्टि से देखें तो औपनिषदिक दर्शन की कल्पना न्याय-वैशेषिक दर्शन के साथ उतना मेल नहीं खाती, जितना सांख्ययोग के साथ मेल खाती है। सभी औपनिषदिक दर्शन मुक्ति अवस्था में सांख्य-योग के समान शुद्ध चेतनरूप में ब्रह्म तत्त्व या जीव तत्त्व का अवस्थान स्वीकार करते हैं।

इस प्रकार वैदिक दर्शनों की मोक्ष और आत्मा के संबंध में परस्पर एक दूसरे के साथ समानताएँ और असमानताएँ हैं। अब उनकी जैनदर्शन के साथ तुलना करते हैं।

सर्व प्रथम हम न्याय-वैशेषिक दर्शन के मोक्ष स्वरूप को देखें, जिसमें आत्म गुणों के आत्यंतिक क्षय को मोक्ष कहा गया है। इस संबंध में जैनदर्शन का मन्तव्य है कि जैसे अग्नि से उष्णता और जल से शीतलता तथा इसी प्रकार अन्यान्य वस्तुओं के स्वभाव उनसे कभी पृथक् नहीं किये जा सकते हैं, वैसे ही ज्ञान और दर्शन आदि जो आत्मा के गुण हैं, कभी भी नष्ट नहीं हो सकते हैं। यदि गुणों का गुणी से पृथक् होना मान लिया जाये अथवा गुण अलग और गुणी अलग सिद्ध हों, तो जड़ और चेतन में कोई भेद नहीं रहेगा। वस्तु का स्वरूप क्या है? इसका निर्णय ही नहीं किया जा सकेगा। यदि यह कहा जाये कि ज्ञान का संबंध केवल आत्मा से ही होता है, जड़ से नहीं, तो ऐसा क्यों है? यदि यह कहा जाये कि केवल इन्द्रियजन्य ज्ञान का उच्छेद होता है, तो जैन दर्शन ने यह स्वयं स्वीकार किया है कि मोक्ष में शरीर, इन्द्रिय आदि नहीं है, अतः तज्जन्य कार्य की वहाँ संभावना नहीं है। नैयायिक मोक्ष होने पर आत्मा की स्वप्न रहित निद्रा जैसी अवस्था मानते हैं। लेकिन यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि स्वप्न रहित निद्रा की अवस्था वैसी ही है, जैसी जड़ की है। तब तो जड़ को भी मोक्ष हो जाना चाहिये।

सांख्यदर्शनमान्य मोक्ष का स्वरूप जैन दर्शन के अत्यधिक निकट होने पर भी उसमें आपत्तिजनक बात यह है कि सांख्य प्रकृति को केवल कर्त्ता और पुरुष (आत्मा) को केवल भोक्ता मानते हैं। वे कहते हैं कि जब पुरुष प्रकृति के बंधन से मुक्त हो जाता है, तो सुख आदि गुण भी नष्ट हो जाते हैं। केवल उसकी सत्ता शेष

रहती है। मुक्ति में सुखादि की सत्ता नहीं है, क्योंकि ये सब प्रकृति के भाव हैं, लेकिन जैनदर्शन ने मुक्तात्मा में उसके स्वाभाविक गुणों का नास्तित्व स्वीकार नहीं किया है। ज्ञान, सुख आदि स्वाभाविक गुण स्वयं आत्मा के हैं, जड़ प्रकृति अथवा वस्त्वन्तर के नहीं है। जो आत्मा के स्वाभाविक गुण बंधावस्था में पूर्णतया अभिव्यक्त नहीं थे, वे ही मुक्तावस्था में अपने चरम विकास के साथ प्रकट हो जाते हैं।

सांख्य-योग दर्शन में पुरुष की कैवल्यावस्था का जो स्वरूप बतलाया है, वह जैनदर्शन के केवलज्ञानी के वर्णन से मिलता जुलता है। वहाँ कहा है कि विवेक पूर्ण होने पर आत्मा अनात्मा से पृथक् अपने चित्स्वरूप में प्रतिष्ठित होती है। यही बात जैन दर्शन ने भी स्वीकार की है कि आत्मगुणों के आवरक कर्मों के क्षय हो जाने पर आत्मा सर्वज्ञ सर्वदर्शी अवस्था को प्राप्त करती है। इसी प्रकार सांख्य-योग दर्शन का जीवनमुक्त और विदेहमुक्त आत्मा का वर्णन भी क्रमशः जैन दर्शन के अरिहंत और सिद्ध स्वरूप से मिलता जुलता है। जीवनमुक्त अवस्था में देहमय, मनोमय अनुभव के अतिरिक्त ब्रह्मानुभव अनुस्यूत तथा केवल प्रारब्ध कर्म शेष रहते हैं और जब वह प्रारब्ध योग के द्वारा समाप्त हो जाता है, तब परामुक्ति-विदेह मुक्ति प्राप्त होती है। जैनदर्शन में भी तेरहवें गुणस्थानवर्ती केवलज्ञानी का यह रूप स्वीकार किया गया है कि घाती कर्मों के क्षय हो जाने पर अघाती कर्म शेष रहते हैं और जब तक अघाती कर्मों की सत्ता है, तब तक शरीर, इन्द्रिय आदि का संयोग बना रहता है। लेकिन जब चौदहवें अयोगी केवली गुणस्थान में इन अघाती कर्मों का भी निःशेष रूप से क्षय हो जाता है, तब सिद्ध (विदेहमुक्त) अवस्था प्राप्त हो जाती है।

जैन दर्शन की तरह मीमांसा दर्शन भी यद्यपि कर्म को बंधन का कारण मानता है, लेकिन उसने मुक्ति के लिए वेदविहित कर्म करना अनिवार्य बताया है। उसका कहना है कि वेदोक्त कर्मों के आचरण से शरीर का नाश होने पर पुनः नये शरीर की प्राप्ति नहीं होने से आत्मा शुद्ध स्वरूप में अवस्थित हो जाती है। किन्तु जैन दर्शन में यह स्वीकार नहीं किया गया है कि वेदोक्त कर्म से मुक्ति प्राप्त हो जायेगी। प्रत्येक कर्म चाहे वह वेदोक्त हो या लोकोक्त, शुभ हो या अशुभ पुण्यरूप हो या पापरूप, जिसमें राग-द्वेष का किंचित् मात्र भी अंश है, वह कर्म बंधन-संसार का कारण है। मुक्ति के लिए निःशेष रूप से आत्यन्तिक कर्म क्षय होना आवश्यक है। जब तक कर्मसंसर्ग अवशिष्ट है, तब तक आत्मा मुक्ति प्राप्त नहीं कर सकती।

वेदान्त दर्शन की मान्यता मुक्तावस्था में आनन्द ही आनन्द मानने की है, जो जैनदर्शन से आंशिक रूप में मिलती जुलती है। मोक्ष में आनन्द की पूर्ण अभिव्यक्ति हो जाती है, किन्तु आत्मा का स्वरूप केवल आनन्द है और उसे प्राप्त करना ही मोक्ष

है, ऐसा मानना ठीक नहीं है। क्योंकि आत्मा का स्वरूप केवल आनन्दरूप ही नहीं है, किन्तु ज्ञान, दर्शन आदि अनन्त गुण भी आत्मा में हैं और वे आत्मा के अपने है तथा मोक्ष में अनन्त सुख की प्राप्ति के साथ ही अनन्तज्ञानादि की भी प्राप्ति होती है। भास्करादि वेदान्तियों का कहना है कि मुक्तावस्था में आनन्द एकान्त रूप से नित्य न हो कर परिणामी भी है। जैन दर्शन भी यही स्वीकार करता है कि ज्ञान द्रव्य दृष्टि से नित्य है किन्तु ज्ञेय परिणमनशील हैं। ज्ञान ज्ञेयों को दर्पण की भाँति जानता है। अतः जैसे ज्ञेय होते हैं वैसा ही प्रतिभास केवली के ज्ञान में पड़ता है। इसलिए जिस प्रकार दर्पण और उसमें प्रतिभासित होने वाले पदार्थ भिन्न हैं, उसी प्रकार आत्मा का ज्ञान गुण नित्य है, अविकारी है, किन्तु ज्ञेय के परिणमनशील होने के कारण वह ज्ञान भी कथंचित् परिणमनशील है। जो बात ज्ञान के बारे में कही गयी है, वही बात अन्य आत्मगुणों की परिणमनशीलता के लिए भी समझ लेनी चाहिये।

जैनदर्शन के साथ वैदिक दर्शनों के मोक्षविषयक तुलनात्मक अध्ययन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि जैनदर्शन के अनुसार मोक्ष में आत्मा की स्वाभाविक शक्तियाँ अनावृत्त हो कर पूर्ण विशुद्धरूप से प्रतिपल, प्रतिक्षण-प्रति समय परिणमन करती रहती हैं। वह मात्र कूटस्थ नित्य नहीं, किन्तु शक्ति रूप से नित्य होने पर भी प्रति समय होने वाले नूतन सदृश-परिणमन-प्रवाह के कारण परिणामी है।

यह जैनदर्शन का मुक्तावस्थापन्न आत्मस्वरूप अन्य दर्शनों से अलग थलग है। यह न तो अपने गुणों से सर्वथा शून्य है और न कर्तृत्व भोक्तृत्व से विहीन अथवा न कर्त्ता अन्य है और न भोक्ता अन्य। फिर भी इसमें अन्य दर्शनों के साथ आंशिक समानताएँ हैं। जैसे द्रव्यरूप से स्थिर रहने के कारण न्याय-वैशेषिक दर्शनों के साथ सहगुणों की अभिव्यक्ति या प्रकाश के संबंध में समानता है।

वैदिक दर्शनों के मोक्षस्वरूपों की विभिन्नता का कारण आत्मा के लक्षण, परिणाम आदि की विविध मान्यताएँ हैं। अतः अब आत्मस्वरूप की तुलनात्मक समीक्षा प्रस्तुत करते हैं।

जैन दर्शन की दृष्टि से सांख्य-योग के समान केवल जड़-अचेतन ही नहीं किन्तु लोकव्यापी समस्त जड़ चेतन पदार्थ परिणामी नित्य हैं। उसका उद्घोष है कि चाहे जड़ हो या चेतन, सभी पदार्थ परिणामी नित्य हैं। यहाँ तक कि यह परिणामी नित्यता द्रव्य के अतिरिक्त उसमें व्याप्त शक्तियों (गुणपर्यायों) में भी वह स्वीकार करता है।[१] इसका फलितार्थ यह हुआ कि आत्मा न तो न्याय-वैशेषिक की तरह

---

१. स्यान्नास्ति नित्यं सदृशं विरूपं, वाच्यं न वाच्यं सदसत्तदेव। - स्याद्वाद मंजरी २५

कूटस्थ नित्य है और न ही बौद्ध की तरह क्षणिक, प्रतिक्षण विनश्वर; किन्तु वह प्रतिक्षण विनाशाविनाशात्मक है।

जैन दर्शन आत्मद्रव्य को न तो न्याय-वैशेषिक के समान व्यापक और न ही रामानुज के समान अणुरूप मानता है; किन्तु मध्यम परिणामी प्राप्तशरीर-प्रमाण मानता है।[1] उसमें संकोच विस्तार दोनों गुण हैं।[2] इस कारण जो जीव एक विराटकाय हाथी के शरीर में रहता है, वही जीव एक नन्ही सी चींटी का शरीर प्राप्त होने पर उसमें भी रह सकता है। द्रव्यरूप से आत्मा शाश्वत है, किन्तु परिणाम की दृष्टि से उसकी अवस्थाओं में परिवर्तन होता रहता है।[3] इस परिणमनशीलता के कारण जैन दर्शन में स्पष्ट रूप से यह माना गया है कि जिस शरीर से जीव मुक्त होता है, उस शरीर का जितना आकार होता है, मुक्तावस्था में उससे तृतीयांश न्यून विस्तार सभी जीवों का होता है।

आत्म प्रदेशों में संकोच विस्तार वहीं तक होता है, जब तक जीव कर्मजन्य शरीर के साथ संबद्ध है। मुक्तात्माओं में शरीरभाव न होने से उनमें संकोच विस्तार नहीं होता। मुक्तात्माओं में जो आकृति की कल्पना की गयी है, उसका आधार अन्तिम शरीर का आकार है। मुक्त जीव में यद्यपि रूपादि का अभाव है, तथापि आकाश प्रदेशों में जो आत्म-प्रदेश अवस्थित हैं, उस अपेक्षा से आकार कहा है।

जैन दर्शन की उक्त मान्यता समस्त भारतीय दर्शनों की मान्यता से पृथक् एवं अपनी मौलिक देन है। इसका कारण यह है कि कितने ही दर्शन आत्मा को व्यापक मानते हैं, तो कितने ही आत्मा को अणुरूप। यही कारण है कि वे मोक्ष में आत्मा का परिमाण क्या है, इसे स्पष्ट नहीं कर सके।

मोक्षाभिलाषी की सामान्य योग्यताओं का जैसा संकेत जैनदर्शन में किया गया है, तत्समकक्ष अर्हताएँ वैदिक दर्शनों में भी स्वीकार की गयी हैं कि मोक्षेच्छुक के लिए मौन, ब्रह्मचर्य आदि व्रत, शास्त्रश्रवण, तप, अध्ययन, स्वधर्म पालन, शास्त्रों की व्याख्या, एकान्तवास, जप और समाधि ये दस मोक्ष के साधन हैं।

मौन-व्रत-श्रुत-तपोध्ययन-स्वधर्म-व्याख्यारहो जपसमाधयः आपवर्ग्याः।
श्रीमद्भागवत ७/९/४६

---

१. सदेह परिणामो- द्रव्यसंग्रह

२. प्रदेश-संहार-विसर्गाभ्यां प्रदीपवत्।- तत्वार्थसूत्र ५।१६

३. *जीवा सिय सासया, सिय असासया.... दव्वट्ठयाए सासया भावट्ठयाए असासया।*

- भगवती ७।२

उक्त सामान्य योग्यतावाली आत्मा के आध्यात्मिक विकास का क्रम क्या है ? इसका उल्लेख योगदर्शन के अतिरिक्त अन्य वैदिक दर्शनों में देखने को नहीं मिलता। योगदर्शन में ज्ञान और अज्ञान की सात सात भूमिकाओं के रूप में कुछ संकेत दिया गया है, जिसका 'आध्यात्मिक विकास की भूमिकाएँ-गुणस्थान' प्रकरण में विचार किया गया है।

बौद्ध दर्शनः-

अन्य दर्शनों की तरह मोक्ष विषयक अपने आशय को स्पष्ट करने के लिए मुक्ति, कैवल्य, श्रेय, निःश्रेयस, अमृत, अपवर्ग मोक्ष आदि शब्दों का उपयोग न कर बौद्धदर्शन ने निर्वाण शब्द का प्रयोग किया है। निर्वाण बौद्धदर्शन का महत्त्वपूर्ण शब्द है। बौद्धदर्शन के अभिप्रायानुसार निर्वाण निरोधरूप है। जीवन का चरम लक्ष्य दुःख की आत्यंतिक निवृत्ति अथवा निर्वाण है। तृष्णा आदि समस्त क्लेशों, दुःखों और उनके कारणों का निःशेष रूपेण निरोध-विनाश हो जाना ही निर्वाण है। बौद्धदर्शन में निर्वाण के संदर्भ में 'दुःखनिरोध' की व्याख्या दुखों की आत्यंतिक निवृत्ति की है, क्योंकि समस्त दृश्यसत्ता अनित्य है, क्षणभंगुर है, अनात्म है। एक मात्र निर्वाण ही साध्य है। प्रो. मूर्ति [१] बौद्धदर्शन के इतिहास को निर्वाण का इतिहास और प्रो. यदुनाथ सिन्हा [२] निर्वाण को बौद्ध शीलाचार का मूल आधार मानते हैं।

अधिधम्म महा विभाषा में निर्वाण शब्द की अनेक व्युत्पत्तियाँ बतलायी गयी हैं। जैसे-

'वाण' अर्थात् पुनर्जन्म का मार्ग और 'निर्' का अर्थ है छोड़ना। अतः निर्वाण का अर्थ हुआ-स्वामीरूप से पुनर्जन्म के सभी रास्तों को छोड़ देना। अथवा

'वाण' का अर्थ है दुर्गन्ध और 'निर्' का अर्थ है नहीं। अतएव निर्वाण उस स्थिति का परिचायक है, जो दुःख देने वाले कर्मों की दुर्गन्ध से पूर्णतया मुक्त है। अथवा

'वाण' का अर्थ है घना जंगल और निर् अर्थात् स्थायी रूप से छुटकारा पाना। याने इस भवाटवीरूप घने जंगल से सदा के लिए छुटकारा पा लेना। अथवा

'वाण' अर्थात् बुनना और 'निर्' का अर्थ है 'नहीं'। इसलिए निर्वाण वह स्थिति है कि सभी प्रकार के दुःख देने वाले कर्मरूपी धागे जो जन्ममरणरूप संसार बुनते हैं, उनसे मुक्ति।

---

१. हिस्ट्री ऑफ इंडियन फिलॉसफी - ईस्टर्न एण्ड वेस्टर्न वॉल्यूम पृष्ठ २१२

२. वही पृष्ठ ३२८

पाली टेक्स्ट सोसायटी द्वारा प्रकाशित पाली-अंग्रेजी शब्द कोश में 'निर्वाण' शब्द का अर्थ 'बुझ जाना' किया गया है। अमरकोष में भी यही अर्थ मिलता है। बौद्ध विद्वान अश्वघोष का भी यही आशय है। लेकिन विद्वानों ने 'निर्वाण' का अर्थ बुझ जाना या उच्छेद हो जाना ग्राह्य नहीं माना है। जैसे रॉस डेविड्ड, थॉमस, आनन्द कुमार स्वामी, श्री लक्ष्मी नरसु, दाहल मॅन, डॉ. राधाकृष्णन, प्रो. जे.एन. सिन्हा, डॉ. सी. डी. शर्मा प्रभृति अनेक विज्ञों का यह पूर्ण निश्चित मत है कि निर्वाण व्यक्तित्व का उच्छेद नहीं, अपितु नैतिक पूर्णत्व की ऐसी स्थिति है, जो आनन्द से परिपूर्ण है।

डॉ. राधाकृष्णन लिखते हैं-निर्वाण न तो शून्यरूप है और न ही ऐसा जीवन कि जिसका विचार मन में आ सके, किन्तु वह अनन्त यथार्थ सत्ता के साथ ऐक्य भाव स्थापित कर लेने का नाम है, जिसे बुद्ध प्रत्यक्षरूप से स्वीकार नहीं करते।[१]

बुद्ध की दृष्टि से 'निव्वान' उच्छेद या पूर्ण क्षयरूप अवश्य है; परन्तु वह पूर्ण क्षय आत्मा का नहीं, अपितु यह क्षय लालसा, तृष्णा, विजीगिषा एवं उनकी तीनों जड़ें-राग, जीवन धारण करने की इच्छा और अज्ञान का है।[२]

प्रो. मॅक्समूलर लिखते हैं कि यदि हम धम्मपद के प्रत्येक श्लोक को देखें (जहाँ पर निर्वाण शब्द आता है), तो हम पायेंगे कि एक भी स्थान ऐसा नहीं है, जहाँ पर उसका अर्थ उच्छेद होता हो। सभी स्थान नहीं, तो भी बहुत अधिक स्थान ऐसे हैं; जहाँ पर यदि हम 'निर्वाण' शब्द का उच्छेद अर्थ ग्रहण करते हैं; तो वे पूर्णत: अस्पष्ट हो जाते हैं।

राजा मिलिन्द की जिज्ञासा पर नागसेन ने विविध उपमाएँ दे कर निर्वाण की समृद्धि का प्रतिपादन किया है। उससे यह स्पष्ट होता है कि बुद्ध का निर्वाण न्याय वैशेषिकों के मोक्ष के समान केवल एक निषेधात्मक स्थिति नहीं है।

संक्षेप में सारांश यह है कि बुद्ध ने स्वयं निर्वाण के स्वरूप के संबंध में अपना स्पष्ट मन्तव्य प्रस्तुत नहीं किया; जिसके फलस्वरूप उत्तरवर्ती काल में कतिपय विद्वानों

---

१. भारतीय दर्शन भाग १ पृष्ठ ४११ - ४१४

२. (क) धम्मपद १९४

(ख) संयुक्तनिकाय, ओघतरण, विमोक्ख संयोजन बंधन सुत्त।

जैन दर्शन में भी निर्वाण का यही अर्थ लिया गया है।

ण वि इंदिय उवसग्गा, ण वि मोहो विम्हिया ण णिद्दाया।
ण य तिण्हा णे व छुहा, तत्थेव य होइ निव्वाणं॥ - *नियमसार १८०*

जहाँ इन्द्रियाँ, मोह, विस्मय, निद्रा, तृष्णा, क्षुधा आदि कुछ नहीं है; वहीं निर्वाण है।

ने निर्वाण का शून्यता के रूप में वर्णन किया है, तो कतिपय विद्वानों ने निर्वाण को आनन्ददायक बताया है।

तथागत बुद्ध ने अनेक अवसरों पर निर्वाण को अव्याकृत कहा है। विचार और वाणी द्वारा उसका वर्णन नहीं किया जा सकता। प्रसेनजित के प्रश्नों का उत्तर देते हुए खेमा भिक्षुणी ने कहा है कि जैसे गंगा नदी के किनारे पड़े रेत के कणों को गिनना किसी भी प्रकार से संभव नहीं है; या सागर के पानी को नापना संभव नहीं है; उसी प्रकार निर्वाण की अगाधता को नापा नहीं जा सकता।[१]

बौद्धमत के अनुसार निर्वाण जीवन काल में भी प्राप्त किया जा सकता है; जिसे जीवनमुक्त कहते हैं। जीवनमुक्तावस्था में व्यक्ति राग, द्वेष आदि दुर्गुणों पर विजय प्राप्त करके अपने कर्मबंधन का विनाश करने में समर्थ हो जाता है। जीवनमुक्त दशा में कर्मशक्ति न रहने के कारण कर्मफलरूप पुनर्जन्म की प्राप्ति नहीं होती। जैसे बीज के दग्ध हो जाने पर उससे अंकुर नहीं निकलता। कर्मशक्ति के अभाव का यह तात्पर्य कदापि नहीं है कि निर्वाण प्राप्त कर लेने पर अर्हत् निष्क्रिय हो जाते हैं। वे कर्म करते हैं; किन्तु कर्म के बंधन में नहीं बँधते। यहाँ भगवद्गीता के 'मा ते संगोऽस्तव कर्मणि' वाक्य से स्पष्ट साम्य परिलक्षित होता है। महात्मा बुद्ध परिनिर्वाण प्राप्त कर लेने पर भी परिभ्रमण करके धर्म प्रचार करते रहे। इस प्रकार बौद्धमत में भी मुक्तपुरुष दो प्रकार के होते हैं- १. जीवनमुक्त-जिसमें वे जीवन धारण किये रहते हैं और दूसरे वे जिनका सांसारिक जीवन समाप्त हो जाता है और जो षडायतन शरीर का परित्याग कर देते हैं।

दर्शनान्तरों में मुक्तिस्थानः-

समस्त भारतीय दर्शनों द्वारा मान्य मोक्ष स्वरूप एवं उसकी तुलनात्मक समीक्षा करने के अनन्तर अब दर्शनान्तरों की विदेहमुक्त आत्मा के वासस्थान की मान्यताओं पर दृष्टिपात करते हैं। जैनदर्शन की मान्यता का तो पूर्व में उल्लेख किया जा चुका है; लेकिन दर्शनान्तरों ने प्रस्तुत का विचार मान्यताभेद होने से विविध दृष्टियों से किया है।

न्याय-वैशेषिक और सांख्य-योग दर्शन आत्मा को व्यापक मानते हैं; इसी प्रकार अनेक आत्माएँ मानते हैं। आत्मा विभुत्ववादी है मुक्तावस्था पन्न आत्मा के वासस्थान का क्षेत्र सांसारिक क्षेत्र से पृथक् नहीं है। मुक्त और संसारी आत्मा में अन्तर इतना ही है कि जो सूक्ष्म शरीर अनादि काल से आत्मा के साथ संश्लिष्ट था,

---

१. संयुक्तनिकाय खेमाथेरी सुत्त

जिसके परिणाम स्वरूप नित्य नूतन स्थूल शरीर धारण करना पड़ता था; उसका सदा के लिए संबंध नष्ट हो जाने से स्थूल शरीर धारण करने की परंपरा नष्ट हो जाती है। जीवात्मा या पुरुष परस्पर सर्वथा भिन्न हो कर मुक्तिदशा में भी अपने अपने भिन्न स्वरूप में सर्वव्यापी हैं।

वैदिक साहित्य में मुक्तात्मा के वास स्थान का जैन दर्शन की सिद्धशिलावत् ऊर्ध्व लोक में ब्रह्मलोक, वैकुंठ, परमधाम आदि के नाम से वर्णन किया है। केवलाद्वैतवादी (ब्रह्माद्वैतवादी) भी ब्रह्म या आत्मा को व्यापक मानते हैं; किन्तु न्याय-वैशेषिक, सांख्ययोग के समान जीवात्मा का वास्तविक बहुत्व नहीं मानते है। उनका मन्तव्य है कि मुक्त होने का अर्थ है सूक्ष्म शरीर या अन्तरःकरण का सर्वथा नष्ट होना। उसके नष्ट होते ही उपाधि के कारण जीव की ब्रह्मस्वरूप से जो पृथक्ता प्रतिभासित होती थी, अब वह नहीं होती। तत्त्वरूप से जीव ब्रह्मस्वरूप ही था। उपाधि नष्ट होते ही वह केवल ब्रह्मस्वरूप का ही अनुभव करता है। मुक्त और संसारी आत्मा में अंतर यही है कि एक में उपाधि है, दूसरे में नहीं है। उपाधि के अभाव में परस्पर में भेद भी नहीं है। वह केवल ब्रह्म स्वरूप ही है।

अणु जीवात्मावादी वेदान्तियों की कल्पनाएँ पृथक् पृथक् हैं। रामानुज विशिष्टाद्वैती हैं। वे वस्तुतः जीव बहुत्व को मानते हैं; किन्तु जीव का परब्रह्म वासुदेव से सर्वथा भेद नहीं है। जब जीवात्मा मुक्त होती है; तब वासुदेव के धाम वैकुंठ या ब्रह्मलोक में जाती है। वह वासुदेव के सान्निध्य में उसके अंशरूप से उसके सदृश हो कर रहती है। मध्व भी अणुजीववादी हैं। वे जीव को परब्रह्म से सर्वथा भिन्न मानते हैं; किन्तु मुक्त जीव की स्थिति विष्णु के सन्निधान में अर्थात् लोकविशेष में कल्पित करते हैं। शुद्धाद्वैती वल्लभ भी अणु जीववादी हैं; किन्तु साथ ही ब्रह्म परिणामवादी हैं। उनका मन्तव्य है कि कुछ भक्त जीव ऐसे होते हैं; जो मुक्त होने पर अक्षरब्रह्म में एकरूप हो जाते हैं और दूसरे पुष्टिभक्ति जीव ऐसे हैं; जो परब्रह्म स्वरूप होने पर भी भक्ति के लिए पुनः अवतीर्ण हो कर मुक्तवत् संसार में विचरण करते हैं।

मुक्तात्मा की गति के लिए जैनदर्शन का निर्देश है कि वह विग्रह विहीन इषुगति से गमन कर सिद्धशिला पर अवस्थित हो जाती है। इसके लिए वैदिक साहित्य में बतलाया गया है कि देवयान अर्थात् अर्चिमार्ग[१] से गमन करते हुए मुक्त जीव सूक्ष्म से सूक्ष्म ऊर्ध्व लोकों में तब तक बढ़ता जाता है, जब तक वह मुक्त

---

१. (क) ऋग्वेद १०।८८।१५

(ख) गीता अध्याय ८

स्थान में नहीं पहुँच जाता। इस मार्ग में अग्निलोक, अहर्लोक, शुक्ल-पक्ष लोक, उत्तरायणलोक, संवत्सरलोक, वायुलोक, सूर्यलोक, चन्द्रलोक, विद्युल्लोक, वरुणलोक, इन्द्रलोक और ब्रह्मलोक स्थित हैं। मुक्त आत्मा शरीर त्याग कर प्रथम अग्निलोक में पहुँचती है। अग्निलोक के देव उसे अपने लोक का मार्ग दिखाते हुए अहर्लोक तक, अहर्लोक से देव अपने लोक से शुक्ल पक्ष लोक तक, शुक्ल पक्ष लोक के देव उत्तरायण लोक तक पहुँचा कर लौट आते हैं। इसी तरह उत्तरायण लोक आदि के देव क्रमशः आगे आगे के लोकों तक मुक्तात्मा को ससम्मान पहुँचा कर लौट आते हैं और ब्रह्मलोक में पहुँचने पर मुक्तात्मा अपुनर्भव हो कर अनंत संवत्सर पर्यन्त रहती हैं।[१]

मुक्तिक्षेत्र की दिव्यता के लिए वेदों में उल्लेख है कि मोक्ष लोक में अजस्र ज्योति है। वहाँ हर तरह का प्रकाश और सुख है और अनुकाम है। वहाँ के लोक ज्योतिर्मय हैं। वहाँ काम, निवास, स्वधा, तृप्ति, आनन्द, मोद और प्रमोद हैं। वहाँ सभी मनोरथ पूर्ण हो जाते हैं।[२] वह जड़ प्रकृति का बना हुआ नहीं है, चेतन है। वह सत्ता व शुद्ध तत्त्व है। वह सत्वगुण, रजोगुण और तमोगुण का सहवर्ती प्राकृत सत्व नहीं, प्रत्युत् उससे विलक्षण है। क्योंकि प्राकृत सत्व जड़ सत्ता है और अप्राकृत सत्व अजड़ सता है। जड़ पदार्थ परतः प्रकाश्य होता है और अजड़ पदार्थ होता है—स्वयं प्रकाश। वैकुंठ स्वयं प्रकाश सत्ता है।

कौषीतकी उपनिषद् में मुक्तिक्षेत्र (ब्रह्मलोक) की भौगोलिक स्थिति का वर्णन इस प्रकार है —

ब्रह्मलोक में प्रविष्ट होने के पूर्व 'आर' नाम ह्रद् पड़ता है, जो काम-क्रोध आदि-आदि वर्ग से विरचित है। यह आर ह्रद् ब्रह्मलोक जाने के मार्ग को अवरुद्ध कर के स्थित है एवं शत समुद्रों से भी अधिक गहरा है। उस ह्रद के उस पार मुहूर्त अथवा दंडद्वय काल के अभिमानी देवता निवास करते हैं। जो लोग कामक्रोधादि अदि वर्ग को विनष्ट कर देते हैं, वे उस ह्रद् को पार कर सर्व प्रथम वित्तरा नदी के तट पर पहुँचते हैं, जिसके दर्शन से जरावस्था नष्ट हो जाती है। नदीतट से चल कर वे इला वृक्ष की छाया में विश्राम करते हैं। इसी वृक्ष को अन्य उपनिषदों में 'सोमसवन'

---

१. (क) बृहदारण्यकोपनिषद् ६।२।१५

(ख) अचिरिहः सितः पक्ष, उत्तरायण वत्सरौ। मरुद्धरीवन्दवो विद्युद्वरुणेन्द्र चतुर्मुखाः॥
एते द्वादश धीराणां, परधामाति वाहिकाः। वैकुण्ठ प्रापिका विद्युद्वरुणादेस्त्वनुग्रहः॥

- गीता अध्याय ८

नामक अश्वत्थ वृक्ष भी कहा गया है। उस वृक्ष के बाद बहुत से लोगों के निवास योग्य सालव्य नामक पत्तन है। वह नगर अनेक प्रकार के बाग-बगीचों, कूपों, बावड़ियों, तड़ाग आदि से सभी को सुखदायक एवं मनमोहक है तथा उसके आसपास और अनेक, छोटे-बड़े नगर बसे हुए हैं। नगर के मध्य में ब्रह्म के निवास के लिए राजमंदिर बना हुआ है, जिसका नाम अपराजित है। राजमंदिर के इन्द्र और प्रजापति नामक दो द्वारपाल हैं। सभास्थल का नाम विभुप्रमित है एवं वेदी का नाम विचक्षण है। उस वेदी पर अमितौजा नामक पलंग बिछा हुआ है। ब्रह्म की भार्या का नाम मानसी है, जिसके अलंकार भी मानसी हैं तथा वह स्वयं तेजोमयी है। जरायुज, स्वेदज, अंडज और उद्भिज इन चार प्रकार के भूतों से निर्मित जगत उसके पुष्प एवं उत्तरीय तथा अधरीय वसन हैं। इसी प्रकार अंबा (श्रुति) एवं अंबायी (बुद्धि) वहाँ की अप्सराएँ हैं। पुर और पत्तनवासी लोगों के भोग के लिए जलप्रवाह धारिणी नदियाँ अम्बया हैं, जो उपासना नामक धारा से सदैव प्रवाहमान बनी रहती हैं।

उक्त उपनिषद् वर्णित ब्रह्मलोक को आधार बना कर उत्तरवर्ती काल में अन्य वैदिक आचार्यों ने अपने अपने दृष्टिकोण के अनुसार मुक्तिक्षेत्र का वर्णन किया है।

बौद्ध दर्शन की दृष्टि से जीव या पुद्गल कोई भी शाश्वत द्रव्य नहीं है। अतः पुनर्जन्म के समय वे जीव का एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाना नहीं मानते हैं। क्योंकि वास्तव में न पदार्थ उत्पन्न होते हैं और न नष्ट होते हैं, न पदार्थ नित्य है, न अनित्य है, न पदार्थ में अनेकता है, न एकता है और न पदार्थों का गमन होता है, न आगमन होता है। इसलिए उसका अभिमत यह है कि एक स्थान पर एक चित्त का निरोध होता है और दूसरे स्थान पर नये चित्त की उत्पत्ति होती है। जो पदार्थ हमें भाव अथवा अभावरूप प्रतीत होते हैं, वे केवल संवृत्ति (लोकसत्य) की दृष्टि से ही प्रतीत होते हैं।

राजा मिलिन्द—ने आचार्य नागसेन से प्रश्न किया, पूर्वादि दिशाओं में ऐसा कौनसा स्थान विशेष है, जिसके सन्निकट निर्वाणस्थान की अवस्थिति है?

आचार्य ने कहा-निर्वाणस्थान कहीं किसी दिशा विशेष में अवस्थित नहीं है, जहाँ पर जा कर यह मुक्तात्मा निवास करती हो।

राजा मिलिन्द-जैसे समुद्र में रत्न, फूल में गंध, खेत में धान्य आदि का स्थान नियत है, वैसे ही निर्वाण का स्थान भी नियत होना चाहिये। यदि निर्वाण का स्थान नहीं है, तो फिर यह क्यों नहीं कहते कि निर्वाण ही नहीं है?

नागसेन-राजन्! निर्वाण का नियत स्थान न होने पर भी उसकी सत्ता है। निर्वाण कहीं पर बाहर नहीं है। उसका साक्षात्कार अपने विशुद्ध मन में करना पड़ता है। जैसे दो लकड़ियों के घर्षण से अग्नि पैदा होती है। यदि कोई यह कहे कि

पहले अग्नि कहाँ थी ? तो यह नहीं बताया जा सकता। वैसे ही विशुद्ध मन से निर्वाण का साक्षात्कार होता है, किन्तु उसका स्थान बताना संभव नहीं है।

राजा ने पुनः प्रश्न किया—तो हम यह मान लें कि निर्वाण का नियत स्थान नहीं है। तथापि ऐसा कोई निश्चित स्थान तो होना चाहिये, जहाँ पर अवस्थित रह कर पुद्गल (आत्मा) निर्वाण का साक्षात्कार कर सके ?

आचार्य ने प्रत्युत्तर में कहा—राजन्! पुद्गल शील में प्रतिष्ठित होकर किसी भी आकाश प्रदेश में रहते हुए भी निर्वाण का साक्षात्कार कर सकता है।[1]

स्वयं निर्वाण भी भावरूप है या अभावरूप ? यह हम नहीं जान सकते हैं, क्योंकि निर्वाण न उत्पन्न होता है, न निरुद्ध होता है, न वह नित्य है और न अनित्य है। निर्वाण में न कुछ नष्ट होता है और न कुछ उत्पन्न होता है। जो निर्वाण है, वही संसार है और जो संसार है, वही निर्वाण है।[2]

दर्शनान्तरों में मोक्षमार्ग और तुलनात्मक समीक्षाः-

जैन दर्शन के मोक्षमार्ग का पूर्व में उल्लेख किया जा चुका है-सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्राणि मोक्षमार्गः। अब हम वैदिक व बौद्ध के क्रम से दर्शनान्तरों के मोक्ष मार्ग का चिन्तन करते हैं।

वैदिक वाङ्मय अत्यधिक विशाल है। उसमें से न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, पूर्वमीमांसा, उत्तरमीमांसा (वेदान्त) आदि अनेक दार्शनिक विचारधाराएँ निःसृत हुई हैं। किन्तु उपनिषद् एवं गीता ऐसे ग्रंथ हैं, जिन्हें समस्त वैदिक परंपराएँ समान रूप से प्रमाण मानती हैं। उन्हीं ग्रंथों के चिन्तनसूत्रों के आधार पर सभी दर्शनों ने अपनी अपनी मोक्ष साधना के उपायों का ताना-बाना बुना है। आचार्य पतंजली ने तो साधनों पर विस्तार से प्रकाश डाला है। उनमें हेय, हेयहेतु, हान और हानोपाय (संसार, संसारहेतु, मोक्ष, मोक्षहेतु), इन चारों बातों पर विवेचन किया है[3] तथा न्यायसूत्र के भाष्यकार वात्स्यान ने भी इन्हीं चार बातों पर प्रकाश डाला है।[4]

---

१. मिलिन्द प्रश्न ४।८।९२-९४

२. अप्रहीणामसां प्राप्तमनुच्छिन्नमशाश्वतम्।
अनिरुद्धमनुत्पन्नमेतन्निर्वाण मिष्यते॥ - *माध्यमिक कारिका निर्वाणपरीक्षा*

३. ..... एवमिदमपि शास्त्रं चतुर्व्यूहमेव।
तद्यथा-संसार, संसारहेतुः, मोक्ष, मोक्षोपाय इति। - *योगदर्शन भाष्य २१।१५*

हेय दुःखमनागतम्। - योगदर्शन साधनापद १६
दृष्टृदृश्ययोः संयोगो हेयहेतु - वही १७
तदभावात् संयोगाभावो हानं तद्दृशेः कैवल्यम् विवेकख्यातिरविकल्पक हानोपायः।
- *वही २६*

४. न्याय भाष्य १।१।१।

तथागत बुद्ध ने इन चार सत्यों को आर्य सत्य कहा है-दुःख (हेय), दुःख समुदय (हेयहेतु), दुःख निरोध (हान) और दुःख निरोधगामिनी प्रतिपद् (हानोपाय)।[१]

जैन दर्शन ने इन चार सत्यों को बंध, आस्रव (बंध हेतु) मोक्ष और संवर (मोक्ष हेतु) कहा है।

इस प्रकार सामान्य रूप से चिन्तन करें, तो ज्ञात होगा कि सभी भारतीय दर्शनों ने इन्हीं चार सत्यों के आधार पर अपनी अपनी आध्यात्मिक साधना का प्रासाद निर्मित किया है। संक्षेप में इन चार सत्यों को दो में समाविष्ट किया जा सकता है-बंध और बंध विनाश उपाय।

सारांश यह है कि भारतीय दर्शनों ने आध्यात्मिक साधनों में संसार का मुख्य कारण अविद्या माना है। अविद्या का अर्थ है-निजस्वरूप के ज्ञान का अभाव। आत्मा, चेतन या स्वरूप का अज्ञान ही अविद्या है। अविद्या-अज्ञान, मिथ्याज्ञान से ही अन्य राग, द्वेष, मोह, कषाय आदि विकार जन्म लेते हैं। आचार्य पतंजली ने अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश इन पाँचों क्लेशों का निर्देश करके अविद्या में सभी दोषों का समावेश किया है तथा अविद्या को सभी क्लेशों का जनक कहा है।[२] सांख्य कारिका में इन्हीं पाँचों क्लेशों का पाँच विपर्यय के रूप में उल्लेख किया गया है।[३] महर्षि कणाद ने अविद्या को मूल दोष के रूप में तथा उसके कार्य के रूप में अन्य दोषों का संकेत किया है।[४] अक्षपाद अविद्या के स्थान पर मोह शब्द का प्रयोग करते हैं। मोह को उन्होंने सभी दोषों में मुख्य माना है। यदि मोह नहीं है तो अन्य दोषों की उत्पत्ति नहीं होगी।[५]

---

१. मज्झिमनिकाय भयमेख सुत्त

२. अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशः पंच क्लेशाः।
अविद्या क्षेत्रमुत्तरेषां प्रसुप्त तनु विच्छिन्नोदाराणाम्॥ - *योगदर्शन २।३।४*

३. सांख्य कारिका ४७; ४८

४. प्रशस्तपाद भाष्य संसारापवर्ग

५. दुःख जन्म प्रवृत्ति दोषा मिथ्या ज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदनन्तरायापायादपवर्गः।
- *न्याय सूत्र १।१।२*

कठोपनिषद्,[१] "श्रीमद्भगवदगीता'[२] और ब्रह्म सूत्र की दृष्टि में भी अविद्या मुख्य दोष है।

तथागत बुद्ध ने भी संसार का मूल कारण अविद्या बताया है। अविद्या होने से ही तृष्णा आदि दोष समुत्पन्न होते हैं।[३]

जैन दर्शन ने संसार का मूल कारण दर्शनमोह और चारित्रमोह माना है। अन्य दार्शनिकों ने जिसे अविद्या, विपर्यय, मोह या अज्ञान कहा है, वही जैन दर्शनमान्य दर्शनमोह या मिथ्यात्वदर्शन का आशय है। अन्य दर्शनों ने जिसे अस्मिता, राग, द्वेष या तृष्णा कहा है, उसे जैन दर्शन ने चारित्रमोह या कषाय के नाम से अभिहित किया है। इस प्रकार वैदिक, बौद्ध और जैन परंपराएँ संसार का मूल अविद्या या मोह को मानती हैं और सभी दोषों का समावेश उसमें करती हैं। यहाँ यह बात ध्यान में रखनी चाहिये कि जिस किसी को भी संसार का कारण कहा जाये, उसके मूल राग-द्वेष हैं।[४] जो अविद्या, अस्मिता आदि नाना रूप धारण कर आत्मा को संसारासक्त बनाये रख कर मुक्त होने का अवसर नहीं आने देते हैं।

जब यह निश्चित हो गया कि संसार का मूल कारण अविद्या, अज्ञान है, तो उससे मुक्त होने का उपाय तत्प्रतिपक्षी विद्या है। इसलिए कणाद ने विद्या का विवेचन किया है।

पंतजली ने उस विद्या को विवेकख्याति—पुरुष और प्रकृति के पार्थक्य का ज्ञान हो जाना कहा है। अक्षपाद ने विद्या और विवेकख्याति के स्थान पर तत्त्वज्ञान या सम्यग्ज्ञान शब्द का प्रयोग किया है। बौद्ध दर्शन में उसके लिए मुख्य रूप से 'विपस्सना' या प्रज्ञा शब्द प्रयुक्त हुआ है और जैन दर्शन ने सम्यग्ज्ञान शब्द का प्रयोग किया है। इस प्रकार सभी दार्शनिक परंपराएँ विद्या, तत्त्वज्ञान, प्रज्ञा, सम्यग्ज्ञान आदि से अविद्या-मोह का नाश मानती हैं और उससे जन्म परंपरा का अन्त होता है।

---

१. तत्रेसङ्ख्यं रागद्वेष मोहान्तरभावात्।- न्याय सूत्र ४।१।३
तेषां मोह पापीयान्नामूढस्येतरोत्पत्तेः।- न्याय सूत्र ४।१।६
अविद्यायामन्तरे वर्तमानाः, स्वयं धीराः पंडितं मन्यमानाः।
दण्डम्यमाणा परियन्ति मूढा, अन्धेनैव नीयमाना यथा अन्धाः।
- *कठोपनिषद् १।२।५*

२. अज्ञानेनावृत्तं ज्ञानं, तेन मुह्यति जन्तवः। - *गीता ५।१५*

३. मज्झिमनिकाय महातन्हा संखय सुत्त ३८

४. रागो य दोसो वि य कम्मबीयं। - *उत्तराध्ययन ३२।७*

वैदिक परंपरा ने मोक्ष के साधनों का विविध प्रकारों से वर्णन किया है, किन्तु उनका समाहार करके संक्षेप में ज्ञान, भक्ति और कर्म इन तीनों को अथवा ज्ञान, योग, भक्ति और कर्म इन चारों को मोक्ष का साधन माना है।

तथागत बुद्ध ने सम्यग्दृष्टि, सम्यक् संकल्प, सम्यक् वाक्, सम्यक् कर्मन्त, सम्यक् आजीव, सम्यक् व्यायाम, सम्यक् स्मृति और सम्यक् समाधि का आर्य अष्टांगिक मार्ग बताया है।[१] बुद्धघोष ने इन सब का समावेश करके संक्षेप में शील, समाधि और प्रज्ञा कहा है।[२]

जैन दर्शन ने सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र को मोक्ष का साधन कहा है, और जहाँ कहीं ज्ञान और क्रिया दो को मोक्ष का साधन कहा है, तो ऐसे स्थल में दर्शन को ज्ञान-स्वरूप-ज्ञान का विशेष समझ कर उससे पृथक् नहीं गिनते हैं। परन्तु यहाँ प्रश्न होता है कि वैदिक दर्शनों में कर्म, ज्ञान, योग और भक्ति को मोक्ष का साधन माना है, तो फिर जैनदर्शन में तीन या दो ही साधन क्यों कहे गये हैं? इसका समाधान यह है कि जैनदर्शन में जिस सम्यक् चारित्र को सम्यक् क्रिया कहा है, उसमें कर्म और योग इन दोनों मार्गों का समावेश हो जाता है। क्योंकि सम्यक् चारित्र मनोनिग्रह, इन्द्रियदमन आदि सात्त्विक यज्ञ ही कर्ममार्ग है और चित्तशुद्धि तथा उसके लिए की जाने वाली सत्प्रवृत्ति योगमार्ग है। इस तरह कर्म और योग इन दोनों मार्गों का संमिश्रण ही सम्यक् चारित्र है। सम्यग्दर्शन ही भक्तिमार्ग है, क्योंकि भक्ति में श्रद्धा प्रधान है तथा सम्यग् दर्शन भी श्रद्धा रूप ही है।[३]

इस प्रकार समन्वय की दृष्टि से देखा जाये, तो ज्ञान, भक्ति, कर्म और योग; शील समाधि, प्रज्ञा; सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र आदि में शाब्दिक अन्तर होने पर भी भाव सभी का एक जैसा है। शब्दजाल में फँसकर यदि सत्य तथ्य पर ध्यान दें, तो भारतीय दर्शनों के मोक्ष और मोक्षमार्ग में कितनी एकरूपता है, यह ज्ञात हो जायेगा।

उपसंहार के रूप में यही संकेत पर्याप्त है कि मुक्ति दार्शनिक चिन्तन की वस्तु नहीं है, अपितु जीवमात्र का लक्ष्य है और लक्ष्य इसलिए है कि पूर्ण रूपेण दुःखमुक्ति सचेतन की समस्त आकांक्षाओं का पुंज है। उसकी प्राप्ति मोक्ष के अतिरिक्त अन्यत्र संभव नहीं है और मोक्ष निःशेष रूप से कर्म क्षय होने पर प्राप्त होता है। अतः—

मोक्षमार्गस्य नेतारं, भेत्तारं कर्मभूभृताम्।
ज्ञातारं विश्वतत्त्वानां, वन्दे तद्गुण-लब्धये॥

इतना कह कर अब लेखनी को विराम देते हैं।

---

१. मज्झिमनिकाय सम्मादिट्ठी सुत्तन्त ९

२. विशुद्धिमार्ग

३. तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्। - *तत्त्वार्थ १।२*